स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः

भागवत-पत्रिका

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल बंधनकर ॥

वर्ष ७ | गौराब्द ४७६, मास—विष्णु २३, वार—गर्भोदशायी
शुक्रवार, ३० चैत्र, सम्वत् २०१८, १३ अप्रैल १९६२ | सं. १०-११

श्रीस्वनियम-दशकम्

[श्रीरघुनाथदास-गोस्वामि-विरचितम्]

श्रीगौराङ्गाय नमः

गुरौ मंत्रे नाम्नि प्रभुवर-शचीगर्भजपदे स्वरूपे श्रीरूपे गणयुजि तदीयप्रथमजे ।
गिरीन्द्रे गान्धर्वासरसि मधुपूर्यां व्रजवने व्रजे भक्ते गोष्ठालयिषु परमास्तां मम रतिः ॥१॥

न चान्यत्र क्षेत्रे हरितनुसनाथेऽपि सुजनाद् रसास्वादं प्रेम्णादधदपि वसामि क्षणमपि ।
समं त्वेतद्ग्राम्यावलिभिरभितन्वन्नपि कथां विधास्ये संवासं व्रजभुवन एव प्रतिभवम् ॥२॥

सदा राधाकृष्णोच्छलदतुलखेलास्थलयुजं व्रजं सस्त्यज्यैतद् युगविरहितोऽपि त्रुटिमपि ।
पुनर्द्वारावत्यां यदुपतिमपि प्रौढविभवैः स्तुवन्तं तद्वाचापि हि न हि चलामीक्षितुमपि ॥३॥

गतोन्मादं राधा स्फुरति हरिणा श्लिष्टहृदया स्फुटं द्वारावत्यामिति यदिशृणोमिश्रुतितटे ।
तदाहं तत्रैवोद्धतमति पतामि व्रजपुरात् समुड्डीय स्वास्ताविकगति खगेन्द्रादपि जरात् ॥४॥

अनादिः सादिर्वा पटुरतिमृदुर्वा प्रतिपद-प्रमीलत्कारुण्यः प्रगुणकरुणाहीन इति वा ।
महावैकुण्ठेशाधिक इह नरो वा व्रजपते रयं सूनुर्गोष्ठे प्रतिजनि ममस्तां प्रभुवरः ॥५॥

अनादृत्योद्गीतामपि मुनिगणैर्वैणिकमुखैः प्रवीणां गान्धर्वामपि च निगमैस्तत् प्रियतमाम् ।
यः एकं गोविन्दं भजति कपटी दांभिकतया तदभ्यर्णे शीर्णे क्षणमपि न यामि व्रतमिदम् ॥६॥

अजाण्डे राधेति स्फुरदभिधया सिक्तजनया-ऽनया साकं कृष्णं भजति य इह प्रेमनमितः ।
परं प्रक्षाल्यैतच्चरणकमले तज्जलमहो मुदा पीत्वा शश्वच्छिरसि च वहामि प्रतिदिनम् ॥७॥
परित्यक्तः प्रयोजन-समुदयैर्वाढम सुधि-दुर्रन्धो नीरन्ध्रं कदनभरवार्द्धौ निपतितः ।
तृणं दन्तैर्दष्ट्वा चटुभरभियाचेऽस्य कृपया स्वयं श्रीगन्धर्वा स्वपदनलिनांतं नयतु माम् ॥८॥
व्रजोत्पन्न-क्षीराशन-वसन-पात्रा-पात्रादिभिरहं पदार्थैर्निर्वाह्य व्यवहृतिमदंभं सनियमः ।
वसामिशाकुण्डे गिरिकुलवरे चैव समये मरिष्ये तु प्रेष्ठे सरसि खलु जीवादिपुरतः ॥९॥
स्फुरल्लक्ष्मी-व्रजविजयिलक्ष्मीभर-लसद् वपुः श्रीगान्धार्वा स्मरनिकर दीव्यद्गिरिसुतोः ।
विधास्ये कुंजादौ विविधवरिवस्याः सरभसं रहः श्रीरूपाख्य प्रियतमजनस्यैव चरमः ॥१०॥
कृतं केनाप्येतत्त्रिजनियमशंसिवस्तमिमं पठेद् यो विश्रब्धः प्रिययुगलरूपेऽर्पितमनाः ।
दृढं गोष्ठो हृष्टो वसति वसतिं प्राप्य समये मुदा राधाकृष्णौ भजति स हि तेनैव सहितः ॥११॥

अनुवाद—

श्रीगुरुदेव, इष्टमन्त्र, श्रीहरिनाम, श्रीशचीनन्दन गौरहरिके श्रीचरणकमल, गणसहित श्रीस्वरूप दामोदर गोस्वामी प्रभु, श्रीरूप गोस्वामी एवं श्रीरूपके अग्रज श्रीसनातन गोस्वामी, श्रीगिरिराज गोवर्द्धन, श्रीराधाकुण्ड, श्रीमथुरा धाम, श्रीवृन्दावन, श्रीगोष्ठ, शुद्धभगवद्भक्त और श्रीगोष्ठवासिजन—इन सबके प्रति मेरा दृढ़ अनुराग हो ॥१॥

(श्रीव्रजभूमिके अतिरिक्त) किसी दूसरे स्थान में श्रीहरिका श्रीविग्रह प्रतिष्ठित होने पर भी तथा वहाँ पर किसी सज्जन अर्थात् वैष्णवके सङ्गमें प्रेमपूर्वक रसास्वादनका अवसर प्राप्त होने पर भी वहाँ क्षणमात्र भी वास नहीं करूँगा; परन्तु इस व्रजभूमिमें इन ग्रामिणोंके साथ नाना-प्रकारकी बातें करता हुआ भी जन्म-जन्म तक वास करूँगा ॥२॥

युग-युगका विरही होने पर भी सदा-सर्वदा श्रीश्रीराधाकृष्णकी उच्छ्वसित अतुलनीय लीलास्थली इस व्रजभूमिको छोड़कर मैं पूर्ण ऐश्वर्यके दीप्तिमान् श्रीयदुपतिके कहने पर भी उनके दर्शनोंकी आशासे क्षणभरके लिये भी श्रीद्वारकापुरीमें अब न जाऊँगा ॥३॥

यदि मैं अपने कानोंसे यह सुन लूँगा कि श्रीमतीराधाजी उन्मादवश श्रीद्वारकापुरीमें पधारकर श्रीकृष्ण के साथ निश्चितरूपसे एकत्र विराजमान हो रही हैं, तो मैं उसी क्षण मनसे भी अधिक शीघ्र तथा श्रीगरुड़से भी अधिक तीव्रगतिसे श्रीवृन्दावनसे उड़कर श्रीद्वारकामें ही गर्वित हृदयसे पहुँच जाऊँगा ॥४॥

चाहे आदिरहित हों अथवा आदिसहित हों, कठिन हों या अत्यन्त कोमल हो, पग-पग पर कृपायुक्त हों अथवा नितान्त दयारहित हों और तो क्या परव्योमपति श्रीनारायणसे भी अधिक श्रेष्ठ हों अथवा एक साधारण मनुष्य ही क्यों न हों—इस गोष्ठमें विराजमान व्रजराजके पुत्र—श्रीकृष्ण ही जन्म-जन्ममें मेरे प्रभुवर हों ॥५॥

श्रीनारद आदि मुनियोंने तथा वेदादि शास्त्रोंने श्रीमती राधिकाको श्रीकृष्णकी प्रधाना प्रियतमा घोषित किया है, उन श्रीमती राधिकाकी अवज्ञा करके जो कपटी व्यक्ति दम्भपूर्वक अकेले गोविन्दका भजन करता है, मैं उसके शुष्क सङ्ग में (उसके निकट) क्षणभरके लिये भी गमन नहीं करता ॥६॥

जो व्यक्ति इस ब्रह्माण्डमें 'श्रीराधा'—इस मुख्य या उज्ज्वल नामके द्वारा सारे मानवोंको प्रेममें विभोर करादेनेवाली इनके (श्रीराधाके) साथ श्रीकृष्णका प्रेमपूर्वक प्रणत होकर भजन करते हैं, अहो ! मैं प्रतिदिन उनके चरण कमलोंको पखारकर उस चरणामृतको अतीव आनन्दके साथ सदा पानकर अपने मस्तक पर धारण करता हूँ ॥७॥

श्रीरूप और श्रीसनातन आदि प्रियतमजनों द्वारा परित्यक्त, सचमुच ही अज्ञानी, अतिशय अन्ध एवं नाना-प्रकारके दुःखोंसे पूर्ण समुद्रमें निस्सहायरूपसे गिरा हुआ मैं आज दाँतों तले तिनका धारणकर काकुतिके साथ प्रार्थना कर रहा हूँ कि—स्वयं श्रीमती राधिकाजी मुझे अपने चरणकमलोंके पास कृपापूर्वक आकर्षण करें ॥८॥

मैं व्रजधाममें उत्पन्न दुग्ध आदि भोज्य, वस्त्र और पात्र आदि द्रव्योंसे दम्भरहित होकर अपनी जीवन-यात्रा निर्वाह करता हुआ नियमपूर्वक श्रीराधा-कुण्ड और गिरिराज गोवर्द्धनमें ही वास करूँगा और समय आने पर प्रियतम सरोवर—श्रीराधाकुण्ड के तट पर ही श्रीजीवगोस्वामी आदिके सामने अपने प्राणोंको छोड़ दूँगा ॥९॥

मैं 'श्रीरूप' नामक प्रियतमजनके आनुगत्यमें ही उनके पीछे-पीछे निर्जन कुञ्ज आदिमें श्रीलक्ष्मीदेवी की उज्ज्वल रूपराशिको भी पराभव करने वाले अतुल-नीय रूपसे सम्पन्न श्रीराधिका एवं कन्दर्पसमूह जैसे देदिप्यमान श्रीगिरिधारीकी विविध प्रकारसे आनन्द-पूर्वक सेवा करूँगा ॥१०॥

किसी अकिंचन द्वारा रचित अपने नियम-सूचक इस स्तवको जो श्रीराधाकृष्णके श्रीरूपमें (अथवा प्रेम- परायण श्रीरूपप्रभुमें) अपने चित्तको समर्पण-पूर्वक विश्वासके साथ पाठ करेंगे, वे समय होने पर निश्चय ही व्रजधाममें स्थान लाभकर आनन्दके साथ वास करेंगे और उनके (श्रीरूपप्रभुके) साथ आनन्दपूर्वक निश्चितरूपमें श्रीश्रीराधा-कृष्णकी सेवा करेंगे ॥११॥

श्रीगुरुपदाश्रय

श्रीगुरु-पदाश्रय करना ही भगवद्भक्ति साधनका सबसे पहला दरवाजा है। इसीलिये भक्तिके आचार्य श्रीरूप गोस्वामीने 'भक्तिरसामृतसिन्धु'-ग्रन्थमें भक्ति के अङ्गोंका वर्णन करते हुए लिखा है—

"सर्व प्रथम—

गुरुपादाश्रयस्तस्मात् कृष्ण-दीक्षादि शिक्षणम्।
विश्रंभेण गुरोः सेवा साधुवर्त्मानुवर्तनम्॥

अपने नित्य चरम कल्याणकी कामना रखनेवाले जीव यदि संसार बन्धनसे मुक्त होना चाहते हैं, तो उन्हें सबसे पहले भगवानके प्रकाश-स्वरूप सद्गुरुके शरणागत होना चाहिए। श्रीगुरुदेवके चरणोंमें आत्म-समर्पणके बिना अनर्थ-सागरसे उद्धार पाना कठिन ही नहीं, बिलकुल असम्भव है। सद्गुरुके दो लक्षण हैं—श्रोत्रिय अर्थात् श्रुति-शास्त्रमें पारंगत तथा ब्रह्म निष्ठ अर्थात् कृष्णतत्त्वविद्। ऐसे सद्गुरुका आश्रय ग्रहण करनेके बदले जो लोग तर्कद्वारा भव-समुद्रको पार कर परतत्त्वको जानना चाहते हैं, उन्हें केवल मात्र तर्क ही लाभ होता है। ये लोग श्रौत-पथसे विमुख होकर भ्रम, प्रमाद, करणापाटव और विप्र-लिप्साके फेरमें पड़ कर नास्तिक हो पड़ते हैं। इनकी सारी चेष्टाएं गुरु-द्रोह, शास्त्र-द्रोह एवं भगवत् द्रोहके लिये होती हैं। जो लोग संसार-समुद्रमें सदा के लिये डूब जाने के लिये दृढ़-सङ्कल्प हैं, वे सद्गुरु पादाश्रयकी कोई आवश्यकता अनुभव नहीं करते; बल्कि वे अपने ही जैसे गृहासक्त भगवद् विमुख गुरुब्रुवको ही गुरुके रूपमें वरण करके करोड़ों कल्पों तक अन्ध विश्वासके चक्करमें पड़े रहते हैं। ऐसे लोगोंका तब तक कल्याण नहीं होता, जब तक वे सद्गुरुका वरण नहीं करते।

इस महा-सत्यका प्रचार करने तथा स्वयं आचरण द्वारा लोक शिक्षाके लिये जगद्गुरु श्रीगौर-सुन्दर ने स्वयं श्रीगुरुपादपद्मोंमें आत्म-समर्पण एवं शरणागतिका आदर्श दिखलाया है । श्रीगुरुदेव यथार्थ कृष्णैकशरण एवं कृष्णकी प्रीतिके लिये ही अखिल चेष्टायुक्त है; ऐसे सद्गुरुकी लघुता एवं उनका अभाव अनुमान कर जो उसे पूर्ण करनेके लिये तर्कपथका अवलम्बन करता है, वह भव-यंत्रणासे कभी छुटकारा नहीं पा सकता । "सजातीयाशये स्निग्धे साधौ सङ्गः स्वतो वरं" (भ० र० सि० पूर्व वि: ४०)—यह कल्याणकारी विचार जिनके हृदयमें प्रबल है, केवल वे ही आत्म-समर्पण या श्रीगुरुपदाश्रय करनेमें समर्थ हो सकते हैं । श्रीभगवान्के चरणकमलोंको ही एकमात्र सेवनीय जानकर स्वयं-भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभुने कृष्ण-प्रेमके सच्चे साधकोंको आदर्श-विधिकी शिक्षा प्रदान करनेके लिये श्रीमाधवेन्द्रपुरीके प्रिय कृपापात्र श्रीईश्वरपुरीपादको श्रीगुरुदेवके रूपमें वरण करनेका लीलाभिनय करके उन पर कृपा की थी । जिस कृष्ण-पादपद्म-सुधारसका पान करनेके लिये शिष्यका अभिनय करनेवाले श्रीचैतन्य महाप्रभुकी गुरुदेवके श्रीचरणोंमें भिक्षा-प्रार्थना है, उसी कृष्णपाद-पद्म सुधारस का पान करनेके लिये ही गुरु-लीलाका अभिनय करनेवाले भिक्षादाता ईश्वरपुरी पादका भिक्षा-प्रदान करना है । इन दोनोंमें किसी प्रकारका वैषम्य लक्षित नहीं होता ।

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये ।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥

—जगदीश ! मैं न धन चाहता हूँ, न पुत्र परिवार आदि जन चाहता हूँ, न सुन्दर कविता ही चाहता हूँ । चाहता हूँ केवल हे प्राणेश्वर ! आपके चरण-कमलोंमें मेरी जन्म-जन्ममें अहैतुकी भक्ति हो ।

उपरोक्त श्लोकमें श्रीमन्महाप्रभुजीने साधकके लिये जिस चरम प्रार्थनाकी शिक्षा दी है, वही श्रीमन्माधवेन्द्रपुरी के निष्कपट एवं परिपूर्ण करुणा-प्रसादके प्रभावसे श्रीईश्वरपुरीपादके हृदयमें संचारित होकर हृद्गत भावके रूपमें सदैव निहित थी ।

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रीसरस्वती गोस्वामी ।

श्रीश्रीगोद्रुमचन्द्र भजनोपदेशः

[श्रीश्रीभक्ति विनोद-ठाकुर-कृतः]

तोटक-छन्दः

यदि ते हरिपादसरोजसुधा रसपानपरं हृदयं सततम् ।
परिहृत्य गृहं कलिभावमयं भज गोद्रुमकाननकुंजविधुम ॥१॥
धन-यौवन-जीवन-राज्य सुखं नहि नित्यमनुक्षण-नाशपरम् ।
त्यज ग्राम्यकथा सकलं विफलं भज गोद्रुमकाननकुंजविधुम् ॥२॥
रमणीजन सङ्ग सुखञ्च सखे चरमे भयदं पुरुषार्थहरम् ।
हरिनाम सुधारस-मत्तमति-भज गोद्रुमकाननकुंजविधुम् ॥३॥

जडकाव्यरसो नहि काव्यरसः कलिपावन-गौररसो हि रसः ।
अलमन्यकथाद्यनुशीलनया भज गोद्रुमकाननकुंजविधुम् ॥४॥
वृषभानुसुतान्वितवामतनुं यमुनातट-नागर-नन्दसुतम् ।
मुरलीकलगीत विनोद परं भज गोद्रुमकानन कुंजविधुम् ॥५॥
हरिकीर्तनमध्य गतं स्वजनैः परिवेष्टित जाम्बुनदाभहरिम् ।
निज गौडजनैककृपा जलधिं भज गोद्रुमकानन कुंजविधुम् ॥६॥
गिरिराज सुतापरिवीत-गृहं नवखण्डपतिं यतिचित्तहरम् ।
सुरसंघनुतं प्रियया सहितं भज गोद्रुमकानन कुंजविधुम् ॥७॥
कलिकुक्कुरमुद्गर भावधरं हरिनाम महौषध-दानपरम् ।
पतितार्त्त-दयार्द्र-सुमूर्त्तिधरं भज गोद्रुमकानन कुंजविधुम् ॥८॥
रिपुबान्धव भेदविहीनदया यदभीक्ष्णमुदेति मुखाब्जततौ ।
तमकृष्णमिह व्रजराजसुतं भज गोद्रुमकानन कुंजविधुम् ॥९॥
इह चोपनिषत्-परिगीतविभु-द्विजराजसुतः पुरटाभ-हरि ।
निजधामनि खेलति बन्धुयुतो भज गोद्रुमकानन कुंजविधुम् ॥१०॥
अवतारवरं परिपूर्णकलं परतत्त्वमिहात्मविलासमयम् ।
व्रजधामरसाम्बुधि-गुप्तरसं भज गोद्रुमकानन कुंजविधुम् ॥११॥
श्रुतिवर्णनादि न यस्य कृपाजनने बलवद् भजनेन विना ।
तमहैतुक भावपथा हि सखे भज गोद्रुमकाननकुंजविधुम् ॥१२॥
अपि नक्रगतौ हृदमध्यगतं कममोचयदातर्जनं तमजम् ।
अविचिन्त्यबलं शिवकल्पतरुं भज गोद्रुमकानन कुंजविधुम् ॥१३॥
सुरमीन्द्रतपः परितुष्टमनो वरवर्णधरो हरिराविरभूत ।
तमजस्रसुखं मुनिधैर्यहरं भज गोद्रुमकानन कुंजविधुम् ॥१४॥
अभिलाषचयं तदभेदधियमशुभं च शुभं त्यज सर्वमिदम् ।
अनुकूलतया प्रियसेवनया भज गौद्रुमकानन कुंजविधुम् ॥१५॥
हरिसेवक-सेवनधर्मपरो हरिनामरसामृतपानरतः ।
नति-दैन्य-दया परमानयुतो भज गोद्रुमकानन कुंजविधुम् ॥१६॥
वद यादव माधव कृष्ण हरे वद राम जनार्दन केशव हे ।
वृषभानुसुता-प्रियनाथ सदा भज गोद्रुमकानन कुंजविधुम् ॥१७॥
वद यामुन तीरवनाद्रिपते वद गोकुलकानन पुंजरवे ।
वद रासरसायन गौरहरे भज गोद्रुमकानन कुंजविधुम् ॥१८॥
चल गौरवनं नवखण्डमयं पठ गौरहरेश्चरितानि मुदा ।
लुठ गौरपदाङ्कित-गाङ्गतटं भज गोद्रुमकानन कुंजविधुम् ॥१९॥
स्मर गौरगदाधरकेलिकलां भव गौरगदाधर पक्षचरः ।
शृणु गौरगदाधरचारुकथां भज गोद्रुमकानन कुंजविधुम् ॥२०॥

———

अनुवाद—

यदि तुम्हारा चित्त श्रीहरिके चरणकमलोंसे झरते हुए सुधारसका सदैव पान करनेके लिये तत्पर है, तो कलिभावमय गृह—संसारासक्तिका परित्याग करके श्रीगोद्रुमकानन कुञ्जविधु अर्थात् गोद्रुम काननके स्वानन्द-सुखद-कुञ्जके चन्द्रस्वरूप—श्रीकुञ्जविहारीका भजन करो ॥१॥

धन, यौवन, जीवन और राजसुख—ये सब नित्य नहीं हैं; क्षण क्षणमें इनका विनाश होता रहता है। अतएव व्यर्थकी ग्राम्य-वार्त्ताओंका त्याग करके श्रीगोद्रुमकानन-कुञ्जविधु—श्रीकुञ्जविहारीका भजन करो ॥२॥

सखे! रमणीका संगसुख पुरुषार्थका नाश करने वाला और अन्तमें भयको प्रदान करनेवाला है। अतएव उसका सब प्रकारसे त्याग करके श्रीहरिनाम रूपी अमृतरस पानमें मत्त रहकर श्रीगोद्रुमकाननकुञ्जविधु—श्रीकुञ्जविहारीका भजन करो ॥३॥

जड़ काव्यरस—यथार्थ काव्यरस नहीं है। कलियुग पावनावतारी श्रीगौरसुन्दरका लीलारस ही यथार्थ रस है। अतएव कृष्णेतर कथाओंका (भगवत् कथाओं के अतिरिक्त जो संसारी कथाएँ होती हैं उनका) अनुशीलन छोड़कर गोद्रुमकाननकुञ्जविधु—श्रीकुञ्जविहारीका भजन करो।

बायेंमें श्रीवृषभानु-नन्दिनी श्रीमती राधिकासे युक्त, यमुनातट-नागर मुरली कल-गीत विनोद परायण नन्दनन्दन—श्रीगोद्रुमकाननकुञ्जविधुका भजन करो ॥५॥

हरि-संकीर्त्तनके बीच अपने पार्षदोंसे घिरे हुए, अपने अनुगत जनोंके प्रति कृपाके समुद्र एवं कनककान्तिविशिष्ट जो हरि हैं—उन श्रीगोद्रुमकाननकुञ्जविधि—श्रीकुञ्जविहारीका भजन करो ॥६॥

जिनका भवन गिरिराजसुता गंगाद्वारा परिव्याप्त है, जो नौ-संख्यावाले नवद्वीपके अधिपति हैं, जो यतियोंके चित्तको हरण करनेवाले एवं देवताओं द्वारा सदा पूजित होते हैं, उनकी प्रियतमा (श्रीमतीवृषभानुनन्दिनी) के सहित उन्हीं श्रीगोद्रुमकाननकुञ्जविधु—श्रीकुञ्जविहारीका भजन करो ॥७॥

कलिरूप-कुकुरका विनाश करनेके लिये मुद्गर सदृश हरिनामरूपी महौषधिका दान करनेमें तत्पर, पतितों और दुखियोंके प्रति अतिशय दयार्द्र तथा परम शोभनीय श्रीविग्रह श्रीगोद्रुमकाननकुञ्जविधु—श्रीकुञ्जविहारीका भजन करो ॥८॥

जिनका श्रीमुख-पद्म शत्रु और मित्र सबके प्रति समान रूपसे निरन्तर दया प्रकाश करता है, जो इस कलियुगमें अकृष्ण अर्थात् गौरकान्तियुक्त हैं, उन व्रजराज-सुत श्रीगोद्रुमकाननकुञ्जविधु—श्रीकुञ्जविहारीका भजन करो ॥९॥

द्विजराजके पुत्र (ब्राह्मणके पुत्र), स्वर्ण जैसी उज्ज्वल कान्तिसेयुक्त जो हरि उपनिषदों द्वारा कलियुगके अवतारके रूपमें घोषित हुए हैं, जो अपने पार्षदोंसे परिवेष्टित होकर अपने धाम—श्रीनवद्वीपमें नित्य क्रीड़ा करते हैं, उन श्रीगोद्रुमकाननकुञ्जविधु—श्रीकुञ्जविहारीका भजन करो ॥१०॥

जो (समस्त अवतारोंके) अवतारी हैं, जो सोलह कलाओंसे पूर्ण अथवा समस्त अंशावतारोंको क्रोड़ीभूत करके अवतीर्ण होनेवाले परतत्त्व हैं, जो आत्माराम हैं तथा व्रजधाम रूप रससमुद्रके गुप्तरस हैं, उन श्रीगोद्रुमकाननकुञ्जविधुका भजन करो ॥११॥

भजनके बिना उच्चकुलमें जन्म, ऐश्वर्य, विद्या एवं रूप आदिके द्वारा जिनकी कृपा पायी नहीं जाती, हे सखे! अहैतुक भावसे—बिना किसी हेतुके ही—उन श्रीगोद्रुमकाननकुञ्जविधुका—निरन्तर भजन करो ॥१२॥

जो ग्राह शरीर प्राप्त हुए ह्रदके बीच आर्त्तजनका अनायास ही उद्धार कर दिया था, उन अचिन्त्य

शक्तिमान् प्रेम-कल्पतरु अजन्मा श्रीगोद्रुमकाननकुञ्ज-विधुका भजन करो ॥१३॥

सुरभी और इन्द्रकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर जो उज्ज्वल कान्तिवाले श्रीहरि उनको दर्शन दिये थे, अजस्रसुखके सागर एवं मुनिजनोंके भी धैर्य (की बाँध) को तोड़ देनेवाले उन श्रीगोद्रुमकाननकुञ्ज-विधुका भजन करो ॥१४॥

('मैं ब्रह्म हूँ'—इस) अभेद बुद्धि, कृष्णसेवाके अतिरिक्त अन्यान्य कामनाओं एवं शुभाशुभ (समस्त कर्मों) का त्याग कर अनुकूल भावसे प्रीतिपूर्वक श्रीगोद्रुमकाननकुञ्जविधुका भजन करो ॥१५॥

हरिसेवकोंकी सेवामें परायण, हरिनामरूप अमृत का पान करनेमें तत्पर, नति, दैन्य और दयासे युक्त एवं मानद होकर गोद्रुमकाननकुञ्जविधुका भजन करो ॥१६॥

हे यादव ! हे माधव ! हे कृष्ण ! हे हरे ! हे राम ! हे जनार्दन ! हे केशव ! हे वृषभानुप्रियनाथ—सब समय प्रेमपूर्वक ऐसा उच्चारण करते हुए श्रीगोद्रुम-काननकुञ्जविधुका भजन करो ॥१७॥

हे यमुनातीरवनाद्रिपते ! हे गोकुलकानन-कुञ्ज रवि ! हे रसरसायन गौरहरि !—इस प्रकार सदा-सर्वदा उच्चारण करते हुए श्रीगोद्रुमकाननकुञ्जविधु का भजन करो ॥१८॥

नौ खण्डोंवाले गौरवनमें विचरण करते हुए, श्रीगौरहरिकी लीलाकथाओंका आनन्दपूर्वक पाठ करते हुए तथा श्रीगौरपदाङ्कित गंगातटमें लोटते हुए श्रीगो-द्रुमकाननकुञ्जविधुका—भजन करो ॥१९॥

सखे ! श्रीगौर-गदाधरकी केलिकलाका स्मरण करते हुए श्रीगौर-गदाधरका पक्षगतित्व ग्रहण कर एवं श्रीगौर-गदाधरकी सुन्दर लीलाकथाओंका श्रवण करते हुए श्रीगोद्रुमकाननकुंजविधुका भजन करो ॥२०॥

श्रीकृष्ण-प्रेम

[मेदिनीपुर जिलान्तर्गत गोपालपुरमें त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति भूदेव श्रौती महाराजके भाषणसे]

आजका आलोच्य विषय है—कृष्ण प्रेम। केवल 'कृष्ण-प्रेम' कहनेसे भी कृष्ण-प्रेमका ही बोध होता है। क्योंकि 'प्रेम'-शब्दका अन्यत्र प्रयोग सर्वथा अनुचित है। जिस शब्दका जो अर्थ है, ठीक उसी रूपमें ही उस शब्दका व्यवहार करना उचित है; अन्यथा वाणीके चरणोंमें अपराध होता है। परन्तु आधुनिक तथाकथित शिक्षित जगत् इस तथ्यको समझता नहीं है। विशेषतः आजकल जयन्ती, प्रेम, हरिजन और नारायण—इन कतिपय शब्दोंका बड़ा ही गलत प्रयोग चल रहा है।

प्रेमके सम्बन्धमें कुछ जाननेके पहले प्रेमावतार श्रीचैतन्य महाप्रभुके विषयमें जानना अत्यावश्यक है। उन्होंने अपनी गोष्ठीके अन्तर्गत ही प्रेम-तत्त्वको सम्पूर्णरूपसे सुरक्षित रखा है। यहाँ यह कहना भी अधिक न होगा कि गौरभक्तोंके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी इस प्रेम-सम्पत्तिको ढूँढ़े भी पाया नहीं जा सकता है। श्रीगौरसुन्दरकी शिक्षामें हम प्रेमकी परिभाषा इन शब्दोंमें पाते हैं—

सम्यक् मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते ॥

(चै. च. म. २३।७)

—जो भाव चित्तको सम्पूर्णरूपसे मसृन् (निर्मल एवं स्निग्ध) करता है, अपने अभीष्ट श्रीकृष्णमें अतिशय ममताको उत्पन्न करता है तथा स्वयं इतना गाढ़-स्वरूप होता है कि किसी भी विघ्नके द्वारा रंचमात्र भी न घटता है और न बदलता है, तो उस भावको पण्डितजन 'प्रेम' की संज्ञा देते हैं। नीचे भाव किसे कहते हैं—यह बतलाया जा रहा है—

शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेम-सूर्यांशु-साम्यभाक् ।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते ॥
(भ. र. सि. पू.३।१)

—प्रेमसूर्यकी किरण-स्थानीय विशुद्ध सत्त्व-स्वरूप जो तत्त्व रुचिद्वारा चित्तको मसृन्—स्निग्ध करता है, उसे 'भाव' करते हैं। यह भाव भी साधारण भाव नहीं है। इसके उदयका क्रम श्रीरूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृत-सिन्धुमें इस प्रकार बतलाया है—

आदौश्रद्धा ततः साधु-संङ्गोऽथ भजन क्रिया ।
ततोऽनर्थ-निवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्ततः
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति ।
साधकानामयं प्रेम्नः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः ॥

प्रेमका स्वाद सभी नहीं जानते, जान भी नहीं सकते। प्रेमका स्वाद उन्हें कभी नहीं मिल सकता जिनको श्रद्धा नहीं है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुके शब्दोंमें हम सबसे पहले श्रद्धाका परिचय पाते हैं—"श्रद्धा शब्दे विश्वास कहे सुदृढ़ निश्चय। कृष्णभक्ति कैले सर्व कर्म कृत हय ॥" अर्थात् श्रद्धा उस विश्वासको कहते हैं जिसमें यह सुदृढ़ निश्चय हो कि कृष्णकी भक्ति करनेसे हमारा सब कुछ करना हो गया।' ऐसी श्रद्धा जिस जीवके हृदयमें उदित होगी, वह साधु-संग अवश्य-अवश्य करेगा ही। साधु कहनेसे ऐसे वैष्णव महात्माओंका बोध होता है, जो एकमात्र श्रीकृष्णके अतिरिक्तदूसरेका आश्रय नहीं ग्रहण करते, कृष्ण-कथा छोड़कर अन्य कथाओंकी चर्चा नहीं करते और केवल हरिभक्तोंके सिवा दूसरोंका संग नहीं करते। ऐसे श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ सन्तके पास भगवत्-तत्त्वका श्रवण करना चाहिए। शुद्धरूपसे श्रवण करने पर हृदयमें भजनकी स्पृहा जागती है। तब सद्गुरुके चरणोंमें आत्म-समर्पण और दीक्षा-ग्रहण करके भजन- क्रिया आरम्भ होती है। साधनके द्वारा प्रेमको प्राप्त नहीं किया जा सकता है। बल्कि श्रवण आदिके द्वारा चित्त शुद्ध होने पर ही प्रेमका उदय होता है। इसलिये भक्तिकी कारण-निरपेक्षता है अर्थात् भक्ति भी भगवान्की भाँति स्वयं ही उदित होती है, वह दूसरे किसी भी कारणकी अपेक्षा नहीं रखती। इसीलिये वह कारण-निरपेक्षा कहलाती है। यदि कोई यह कहे कि शुभ कर्मोंके फलस्वरूप भक्तिका उदय होता है, तो ऐसा होने पर भक्तिको कर्मके परतन्त्र मानना पड़ेगा। यदि बिना किसी कारणसे उत्पन्न होनेवाली कहा जाता है, तब वह अनिर्वाच्य हो पड़ती है। यदि यह कहते हैं कि भगवत् कृपा ही भक्ति-उदयका कारण है, तब यह प्रश्न उठता है कि भगवान्की कृपा सर्वत्र क्यों नहीं होती? अतः ऐसा होनेसे भगवानमें वैषम्य-दोष उपस्थित हो पड़ता है। परन्तु वेदान्त शास्त्रमें भगवान्में वैषम्य दोषका निषेध है—

"वैषम्य-नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति"
(ब्रह्मसूत्र २।१।३४)

अर्थात् जगतकर्त्ता परब्रह्ममें विषमता और निर्दयताके दोषका आरोप नहीं किया जा सकता; क्योंकि प्राणियोंके कर्मानुसार ही सुख और दुःखका भोग होता है। जो सत्कर्म करता है, परमेश्वर उसे सुखी और जो असत्कर्म करता है, उसे दुःखी बना कर ही सृष्टि करते हैं। यहाँ यदि यह कहा जाय कि इससे तो भगवानमें पक्षपातरूप वैषम्य आ पड़ता है। तो वास्तवमें यह बात सर्वथा सत्य है। दुष्टोंके दमनसे सज्जनोंके पालनमें जो वैषम्य दीख पड़ता है, वह दोष नहीं गुण है। भक्तवात्सल्य गुण सर्वश्रेष्ठ गुण है।

कृष्ण-भक्तिकी चरम अवस्थाको ही 'प्रेम' कहते

हैं। अब यह देखना है कि कृष्णभक्ति कैसे पायी जा सकती है ? श्रीचैतन्यमहाप्रभु जी कहते हैं—

कृष्ण-भक्ति जन्म-मूल हय साधु-संग ।
कृष्ण-प्रेम जन्मे तेहो पुनः मुख्य अंग ॥
(चै. च. म. २२।८०)

अर्थात् साधु-संग—कृष्णभक्तिका मूल उद्गम तो है ही, अधिकन्तु कृष्ण-प्रेम उत्पन्न हो जाने पर भी वही साधु सङ्ग पुनः प्रेमका भी मुख्य (मूल) अङ्ग माना जाता है।

साधु-सङ्गके प्रभावसे यदि किसी जीवकी कृष्ण-भक्तिमें श्रद्धा होती है, तो उसका संसार दूर हो जाता है एवं साधु-सङ्गमें भजन-क्रिया द्वारा उसकी कृष्ण-भक्ति—कृष्ण-प्रेम-नामक फलको उत्पन्न करती है—

साधुसंगे कृष्णभक्त्ये श्रद्धा यदि हय ।
भक्तिफल प्रेम हय संसार जाय क्षय ॥

किसी सौभाग्यसे किसीका संसार क्षयोन्मुख होने पर वह साधुसङ्ग पाता है, पुनः साधु-सङ्गसे संसारसे उद्धार लाभकर कृष्णके प्रति रति भी प्राप्त कर लेता है। बिना महत् कृपा अर्थात् संतोंकी कृपासे किसी कर्म द्वारा भक्ति नहीं हो सकती है। भक्ति मिलनी तो दूर रही संसार भी दूर नहीं होता—

कौन भाग्ये कारो संसार क्षयोन्मुख हय ।
साधुसंगे तरे, कृष्णे रति उपजय ॥
महत् कृपा बिना कौन कर्मे भक्ति नय ।
कृष्ण भक्ति दूरे रहु संसार नहे क्षय ॥

अतएव कृष्ण-प्रेम प्राप्त करनेके लिये एकमात्र उपाय है—साधु-संग। साधुसङ्ग करनेके लिये सबसे पहले असाधु-सङ्ग, दुःसङ्गका परित्याग करना पड़ेगा। श्रीमद्भागवतमें दुःसङ्ग परित्यागकी बड़ी सुन्दर शिक्षा है—

ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान् ।
सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः ॥
(भा० ११।२६।२६)

—इसलिये बुद्धिमान पुरुषको चाहिए कि कुसङ्ग छोड़ कर सत्पुरुषोंका सङ्ग करे। संत पुरुष अपने उपदेशोंसे उसके मनकी आसक्ति नष्ट कर देंगे। यह दुःसङ्ग क्या है ?—

दुःसङ्ग कहिये कैतव आत्मवंचना ।
कृष्ण, कृष्णभक्ति बिना अन्य कामना ॥

अर्थात् दुःसङ्गका अर्थ है—कपटता अथवा आत्म-वंचनाका कार्य। कृष्णभक्तिका आश्रय ग्रहण करने पर भी कभी-कभी दुर्भाग्यसे दुःसङ्गके कारण कृष्ण और कृष्णभक्तिके बदले अपने सुखादिकी कामनाएँ उपस्थित हो पड़ती हैं। इसलिये सबसे पहले यह विचार कर लेना उचित है कि मुझे क्या चाहिए—आत्मेन्द्रिय प्रीति, अथवा कृष्णेन्द्रिय प्रीति ? आत्मेन्द्रिय प्रीति अर्थात् अपने इन्द्रियोंको सुखी या तृप्त करनेकी चाह ही 'काम' है। इसके लिये कृष्णभक्तिका अनुष्ठान करना अत्यन्त अपराधजनक कार्य है। प्रभु-सेवा न करके उन प्रभुके द्वारा अपनी सेवा करवा लेनेकी प्रवृत्ति—यह भक्तिके ठीक विपरीत कार्य है। जैसे—हरिनाम करके बदलेमें अर्थ लेना। यह भी भयानक अपराध है। कहाँ कृष्णनाम होना चाहिए भगवानकी कृपा प्राप्त करनेके लिये, कहाँ वैसा न करके प्रभुको ही बेचकर अपना पेट भरने लगे ! इसलिए सबसे पहले हमें इस विषयमें सावधान होना पड़ेगा। उपयुक्त साधुका सङ्ग मिलने पर ही हमारा सर्व प्रकार से कल्याण हो सकता है; नहीं तो वंचित हो पड़ेंगे।

श्रीचैतन्य चरितामृतमें असत्सङ्गकी व्याख्या करते हुए उसे त्याग करनेका उपदेश दिया गया है—

असत्सङ्ग त्याग,—एइ वैष्णव आचार ।
स्त्रीसङ्गी-एक असाधु, कृष्णाभक्त आर ॥
(चै. च. म. २२ ८४)

अर्थात् असत्सङ्ग त्याग करना वैष्णवोंका आचार है। असत् सङ्ग दो प्रकारका होता है—(१) स्त्री-सङ्गी अर्थात् स्त्रियोंके प्रति आसक्त व्यक्ति और (२) जो भगवान्‌की भक्ति नहीं करते। अतएव कृष्ण-भक्तिकी

इच्छा रखनेवाले साधकको इन दो प्रकारके असत् सङ्गोंसे सब प्रकारसे दूर रहना चाहिए।

साधु-सङ्गमें भगवत्कथाओंको श्रवण करनेसे साधक जीवके हृदयमें भगवत् सेवाकी अभिलाषा जग उठती है। ऐसी दशामें उपयुक्त भजन कुशल गुरुको वरण करके वह भजन-क्रिया आरम्भ कर देता है। यहाँ यह बात स्मरण रहे कि इस दशामें कुल-गुरुकी अपेक्षा नहीं रहती। भजन-विज्ञ गुरु चाहिए—चाहे वह कुल-गुरु हों अथवा कुल-गुरु न हों। यदि कुल गुरु भजनमें कुशल और कृष्णभक्त न हों तो ऐसे व्यावहारिक गुरुका त्याग कर पारमार्थिक गुरुको वरण करना ही कर्त्तव्य है। इसमें कोई अपराधकी बात नहीं है।

शुद्धाभक्तिका ही आचरण करना चाहिए। यह सर्वदा ध्यान रखना चाहिए कि भक्तिमें ज्ञान, कर्म अन्याभिलाषा आदिका मिश्रण न हो जाय। भगवद्विषयक आनुकूल्य ही भक्तिका प्राण है। भक्तिके स्पर्शसे मनुष्यकी इन्द्रियवृत्ति प्राकृत-चेष्टाका त्याग करके चिन्मय वस्तुको प्राप्त करनेकी दिशामें अग्रसर होती है। जिस प्रकार एक लता पहले-पहल अंकुरित होती है, फिर दो पत्तोंको प्रकट करती है; उसी प्रकार भक्ति भी साधनावस्थामें अंकुरित होती है और फिर दो पत्तोंको उत्पन्न करती है। भक्तिलताके वे दो पत्ते हैं—क्लेशघ्नी और शुभदा।

क्लेशघ्नी कहनेसे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और जड़ासक्ति इन पाँचोंका बोध होता है। प्रारब्ध, अप्रारब्ध, रूढ़ और बीज ये चार प्रकारके पाप भी क्लेशके अन्तर्गत हैं। ये सारे क्लेश भक्तिके अंकुरित होते ही नष्ट हो जाते हैं। अतएव भक्ति क्लेशघ्नी है।

दूसरी ओर विषय-वितृष्णा, भगवद्विषयक सतृष्णत्व, आनुकूल्य, कृपा, सत्य, सरलता, साम्य, धैर्य, गांभीर्य, मानदत्व, अमानित्व और सहिष्णुता आदि सद्गुणोंको शुभ कहा जा सकता है। ये सब गुण भक्तिके उदयके साथ ही भक्तमें स्वयं आ बसते हैं। इसीलिये भक्तिको शुभदा कहा जाता है।

भक्तिके अधिकारी जीवमें सबसे पहले श्रद्धाका उदय होता है। भक्तिशास्त्रमें दृढ़ विश्वास ही श्रद्धा है। शास्त्रमें विश्वास करनेसे शास्त्रोक्त अनुष्ठानोंमें चित्तकी दृढ़ता ही वास्तविक श्रद्धा है। किसी-किसीमें श्रद्धा स्वाभाविकी होती है और किसी-किसीमें श्रवण करते-करते उत्पन्न होती है। श्रद्धा उत्पन्न होनेके पश्चात् श्रीगुरुदेवका चरणाश्रय ग्रहण करके उनके निकट सदाचारकी शिक्षा प्राप्त होकर भजन क्रिया आरम्भ होती है। यह भजन क्रिया दो प्रकारकी होती है—अनिष्ठिता और निष्ठिता। अनिष्ठिता भजन क्रिया क्रमशः उत्साहमयी, घनतरला, व्युढ़विकल्पा, विषय-सङ्गरा, नियमाक्षमा और तरङ्ग-रङ्गिनी भेदसे छः प्रकारकी होती है।

उत्साहमयी—जिस प्रकार कोई बालक पाठशालामें भर्ती होने पर पाठ आरम्भ करने पर ऐसा सोचता है कि 'मैं अब पण्डित हो गया' और ऐसा सोचकर नये उत्साहसे पाठ आरम्भ करता है, उसी प्रकार साधक भी भक्ति मार्गमें प्रवेश करते ही प्रथमावस्थामें नये उत्साह और उद्यमके साथ शास्त्र-श्रवण और नाम-ग्रहण आदि भक्तिके अङ्गोंका पालन करता है। ऐसी भजन-क्रियाको उत्साहमयी कहते हैं।

घनतरला—उपरोक्त प्रकारसे कुछ दिनोंतक शास्त्र-अध्ययन करते रहनेके पश्चात् जिस प्रकार बालकका उत्साह कभी-कभी बढ़ जाता है और कभी-कभी पाठ समझमें न आनेके कारण उसका उत्साह कुछ शिथिल पड़ जाता है, भक्ति-साधककी भी वैसी ही अवस्था होती है। इसे घनतरला कहते हैं।

व्युढ़-विकल्पा—इस अवस्थामें साधकके मनमें नाना-प्रकारके सङ्कल्प-विकल्प उठते हैं। जैसे—मैं स्त्री-पुत्र सबको वैष्णव बना करके सपरिवार भगवान-की सेवा करूँगा—उनका भजन करूँगा अथवा संसार त्याग करके श्रीवृन्दावन चला जाऊँगा और

यमुना तट पर निर्जन स्थानमें अकेले भजन करूँगा। यदि त्याग करूँ तो कुछ समय तक संसार भोग कर करूँ अथवा अभी ही? अतृप्त अवस्थामें त्याग करनेसे यदि कुछ दिनोंके बाद पुनः भोगकी अभिलाषा हृदयमें उत्पन्न होगी तो नरक भोगना पड़ेगा; अतएव क्या करूँ—इत्यादि अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ होती हैं। ऐसी अवस्थाको व्युढ़-विकल्पा कहते हैं।

विषय-सङ्गरा—इस अवस्थामें विषय-भोग त्यागकी निश्चयता पैदा होती है। साधक यह सोचता है कि विषयोंके त्यागके बिना जब भजन नहीं हो सकता है, तब उनका त्याग करना ही उचित है। परन्तु त्याग करनेके लिये कृत-संकल्प होने पर भी विघ्न-बाधाओं के बीच कभी जय और कभी पराजय भी प्राप्त करता है। त्याग करनेमें असमर्थ होने पर घृणाके साथ विषय-भोग करता है। इस अवस्थाको विषय-सङ्गरा कहते हैं।

नियमाक्षमा—एक अवस्था ऐसी आती है जब नियमित रूपसे भजन करनेका सङ्कल्प करने पर भी साधक उसमें असमर्थ होता है। जैसे—मैं आजसे प्रतिदिन एक लाख नाम करूँगा, एक अध्याय भागवत पाठ या श्रवण करूँगा और दस बार साष्टांग प्रणाम करूँगा; परन्तु ऐसा सङ्कल्प होने पर भी साधक किसी कारणसे उक्त नियमको निभा नहीं पाता। इस अवस्थाको नियमाक्षमा कहते हैं। विषय-सङ्गरामें विषय-त्यागमें असमर्थता होती है तथा नियमाक्षमामें नियम-पालनमें असमर्थता होती है।

तरङ्ग रङ्गिनी—सबसे अन्तिम इस अवस्थामें साधकके प्रति लोगोंका झुकाव होने लगता है। इसलिये साधकको लाभ-पूजा-प्रतिष्ठा प्रचुर परिमाणमें मिलने लगती है। यदि साधक पूजा और प्रतिष्ठाके तरङ्गोंमें बहने लगता है, तब उसकी भक्ति लताका बढ़ना रुक जाता है। परन्तु यदि साधक सावधानीसे इन सबको विघ्न मानकर सबका त्याग कर साधनमें आगे बढ़ता जाता है तभी उसका सच्चा भजन आरम्भ होता है। अतएव साधकको व्यक्तिगत लाभ, पूजा और प्रतिष्ठा आदिके प्रति आकर्षित न होकर इनको भगवानकी सेवामें लगाते हुए केवल मात्र श्रवण और कीर्तन आदि भक्तिके अङ्गोंके पालनमें तत्पर रहना चाहिए।

भजन-क्रिया आरम्भ होने पर कुछ दिनों तक भजन करने पर अनर्थ दूर हो जाते हैं। अनर्थ-निवृत्तिके पश्चात् ही यथार्थ भजन आरम्भ होता है। अनर्थ चार प्रकारके होते हैं—दुष्कृतोत्थ, सुकृतोत्थ, अपराधोत्थ और भक्त्युत्थ। (१) बुरे कर्मोंमें आसक्ति तथा राग-द्वेष—इन्हें दुष्कृतोत्थ अर्थात् दुष्कृतिसे उत्पन्न अनर्थ कहा जाता है। (२) भोगोंके प्रति आसक्तिको सुकृतोत्थ अर्थात् सत्कर्मोंसे उत्पन्न अनर्थ कहते हैं। (३) नामापराध आदिको अपराधोत्थ अनर्थ कहते हैं। निरन्तर नाम-ग्रहण और स्तव-स्तोत्र पाठ आदि द्वारा नामापराध नष्ट होते हैं। (४) भक्त्युत्थ अपराधोंसे धन, पूजा और प्रतिष्ठामें साधकका चित्त आसक्त हो पड़ता है। भक्तसेवा और निरन्तर नाम-सेवा द्वारा साधक इस प्रकारकी आसक्तियोंसे दूर रहेंगे।

उपरोक्त चार प्रकारके अनर्थोंके अतिरिक्त और भी पाँच प्रकारके आभ्यन्तरिक विघ्नोंको पार करने पर साधकके हृदयमें नैष्ठिकी भक्तिका उदय होता है। आभ्यन्तरिक विघ्न पाँच प्रकारके हैं—लय, विक्षेप, अप्रतिपत्ति, कषाय, और रसास्वाद। श्रवण, कीर्तन और स्मरणके समय नींद आना ही 'लय' कहलाता है। कीर्तनके समय व्यावहारिक विषयोंका सम्पर्क होना ही 'विक्षेप' कहलाता है। लय और विक्षेपके अभावमें भी कीर्तन आदिमें चित्त न लगना ही 'अप्रतिपत्ति' कहलाता है। क्रोध, लोभ और अहङ्कार आदि संस्कार ही 'कषाय' हैं। विषयोंका सुख उपस्थित होने पर कीर्तन आदिमें मन नहीं लगता—इसका नाम ही 'रसास्वाद' है।

इन विघ्नोंके कारण निष्ठाके उदय होनेमें विलम्ब होता है। परन्तु अभ्यास रूप अग्निद्वारा ये विघ्न-समूह शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। इसके पश्चात् निष्ठा—

रुचिको उत्पन्न करती है। श्रवण-कीर्त्तन आदिके समय किसी भी दूसरे विषयोंकी ओर चित्तका न जाना ही 'रुचि' है। रुचि उत्पन्न होने पर श्रवण-कीर्त्तनमें तनिक भी क्लान्तिका बोध नहीं होता और अधिकसे अधिक रूपमें भक्ति-अनुशीलनमें आग्रह होता है।

भजन-विषयक रुचिकी परिपक्वावस्था ही 'आसक्ति' है। पहले-पहल भक्त अपनी चेष्टासे विषयासक्त चित्तको भगवानके नाम-कीर्तन और उनकी लीला-कथाओंके श्रवणकी ओर लगाता है। परन्तु आसक्ति उदित हो जाने पर भक्तका चित्त स्वतः ही भगवानके नाम, रूप, गुण और लीला-कथाओंमें प्रवेश करने लगता है। निष्ठित भक्तोंका चित्त भगवत् चिन्ता करते-करते कब विषयोंमें प्रवेश करता है—यह नहीं जाना जाता; परन्तु आसक्ति उदित होने पर चित्त कब भगवानकी ओर लगता है, उसे भी लक्ष्य नहीं किया जाता अर्थात् वह सदा-सर्वदा भगवानके प्रति ही आकृष्ट रहता है। ऐसी अवस्था उदित हो जाने पर भक्तमें अमानी और मानद अर्थात् स्वयं मान प्राप्तिकी अभिलाषाका न होना तथा दूसरोंको मान देना, आदि गुण स्वतः उदित होते हैं। साथ ही व्रजेन्द्रनन्दन श्याम-सुन्दरको कैसे पाऊँ—ऐसी चिन्ता भी प्रबल हो उठती है। दिन-रात उत्कंठामें बीतते हैं।

आसक्ति ही अन्तिम अवस्थामें 'भाव' कहलाती है। यह भाव मोक्षको भी तुच्छ प्रतीत कराता है। भाव द्वारा सुवासित चित्त द्रवीभूत होने पर भगवानके निखिल अङ्गोंको स्नेहयुक्त कर सकता है। यह भाव यदि चाण्डाल कुलमें उत्पन्न व्यक्तिके हृदयमें भी उदित हो जाय तो वह चाण्डाल भी सबका प्रणम्य बन जाता है। ऐसी दशामें सब समय भगवत्‌रस आस्वादन करनेकी प्रबल उत्कंठा बनी रहती है। बुद्धि भी जाग्रत-स्वप्न और सुषुप्ति—सब अवस्थाओंमें भगवत्-स्मृतिके पथपर अवस्थित रहती है। उस समय जड़ शरीरमें अभिमान नहीं रहता; बल्कि उसे त्याग कर सिद्ध देहमें प्रवेशके लिये ही सर्वदा तैयार रहता है।

यह भाव दो प्रकारका होता है—रागभक्त्युत्थ और वैधभक्त्युत्थ। रागभक्तिसे उत्पन्न भाव रागभक्त्युत्थ कहलाता है और वैधीभक्तिसे उत्पन्न भाव—वैधभक्त्युत्थ। भक्तिकी चिद्वासनाके तारतम्यसे ही इन दो प्रकारके भावोंका उदय होता है। रागभक्त्युत्थ भावकी शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—ये पाँच अवस्थाएँ हैं। इन भावोंसे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावरूप प्रकृतियाँ प्रकाशित होती हैं। भाव और स्थायी प्रकृतिके मिलनसे रस होता है अर्थात् भाव ही रसताको प्राप्त होता है। स्वयं भगवान ही यह रस हैं। इस भावकी ही आकस्मिक परिणाम दशाको 'प्रेम' कहते हैं अर्थात् भावकी ही परिपक्व दशाका नाम 'प्रेम' है। कब किसकी यह दशा होगी—इसका कोई नियम नहीं है। परन्तु यह निश्चित है कि महासौभाग्यशाली नहीं होनेसे इसके उदयकी संभावना नहीं है।

प्रेमका उदय होनेपर भक्तकी आत्मीय-स्वजनोंके प्रति लगी हुई आसक्ति टूट कर बड़े जोरोंके साथ व्रजेन्द्रनन्दनके चरणकमलोंमें लग जाती है। इसे ही सान्द्रानन्द-विशेषात्मा और कृष्णाकर्षणी भक्ति कहते हैं। यह भक्ति क्षण-क्षणमें नवीन नवीन रूपमें रसका आस्वादन कराती है तथा भक्तके चित्तको भगवानके चरणकमलोंमें आकृष्ट कर उन्मत्त जैसा कर देती है। ऐसी दशामें बन्धु-बान्धव शत्रु जैसे, घर-बार कण्टकोंसे पूर्ण अरण्य जैसा, आहार प्रहार जैसा, प्रशंसा सर्प-दंशन जैसी तथा निद्रा यन्त्रणा जैसी दुःखदायी प्रतीत होती है। यही प्रेम कृष्णको चुम्बककी भाँति खींच कर भक्तकी आँखोंके सामने उपस्थित कर देता है। और इसके आगे कुछ कहनेमें मेरी वाणी बिलकुल असमर्थ है। —निजस्व संवाददाता

कुछ प्रश्न और श्रीश्रीप्रभुपाद द्वारा उनका उत्तर

प्रश्न—क्या शरणागतोंका कल्याण होना निश्चित है ?

उत्तर—निश्चित है। जिस क्षण जीव शरणागत होता है, कल्याण उसी क्षण उसकी मुट्ठीमें आ जाता है। मूल प्रभुके ऊपर निर्भर करनेमें ही सबका कल्याण है। हम जब तक शरणागत नहीं हैं, अथवा जितने अंशोंमें शरणागत नहीं हैं, तब तक अमंगल को आलिंगन किये हुए हैं अथवा उतने ही अंशोंमें अमंगलका वरण किये हुए हैं।

कृष्ण हमें क्लेश देनेके लिये जगत्में नहीं लाये हैं। हमने स्वयं अपनी स्वतंत्रताका अपव्यवहार करके अपने-आप ही अमंगल और क्लेशका वरण किया है। कृष्णकी मंगलमयी वाणीके प्रति श्रद्धा होनेसे ही हमारा कर्तृत्वाभिमान दूर होगा। उस समय हम कर्म-वीर बननेके लिये न दौड़ेंगे। उनकी वाणीका श्रवण करनेके लिये ही हम उनके चरणोंमें शरणागत होते हैं।

प्रश्न—क्या मनुष्य-जन्म देवजन्मसे श्रेष्ठ है ?

उत्तर—अवश्य। देवजन्मसे मनुष्य-जन्म उत्तम है। इसीलिये देवतागण भी मनुष्यजन्मकी कामना करते हैं। देवता लोग विषय-भोगोंको भोगनेमें इतने मत्तरहते हैं कि उन्हें इस बातका ध्यान ही नहीं रहता कि सामने ही उनका भविष्य उनके लिये दुखका भण्डार लादे आ रहा है। वे सामयिक सुखमें ही प्रमत्त रहते हैं। कितने दिनोंके लिये यह सुख-भोगका रंग है ?—'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।' कुछ दिनोंके बाद ही तो पुण्य-भोगका काल समाप्त होने पर पुनः मृत्युलोकमें गिर पड़ेंगे—इसकी वे कल्पना तक नहीं कर पाते, उस समय।

संसारमें सब प्रकारके प्राणियोंमें मनुष्य सर्व-श्रेष्ठ है। अन्यान्य प्राणियोंकी अपेक्षा मनुष्यको भविष्यकी चिन्ता अधिक होती है। यह बात ठीक है कि देवता लोग मनुष्यकी अपेक्षा अधिक सुखसे रहते हैं; उनकी आयु अधिक लम्बी होती है और वे अधिक दिनों तक भोग भी कर सकते हैं; परन्तु देवताओंको असुविधाएँ भी होती हैं और वे असुविधाएँ मनुष्योंको प्राप्त असुविधाओंसे भी कहीं भयंकर होती हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्योंको कुछ ऐसी भी सुविधाएँ प्राप्त हैं, जो देवताओंको प्राप्त नहीं हैं। देवता जन्म, ऐश्वर्य, विद्या और रूपके मद में मत्त होकर इनकी वृद्धिके लिये ही यत्न करते हैं। मनुष्यकी अपेक्षा उनके पास भोगोंके प्रसाधन प्रचुर मात्रामें हैं, इसलिये हम उनको मनुष्यसे श्रेष्ठ मानते हैं। परन्तु मनुष्यको एक विशेष सुविधा यह है कि इनको देवताओं जैसी भोगोंकी प्रचुरता न होनेके कारण देवताओंकी अपेक्षा अधिक कल्याणकी चिन्ता करनेका अधिकार प्राप्त होता है। यदि देवताओंकी देखा-देखी मनुष्य भी प्रचुर मात्रामें भोगोंको भोगने में ही व्यस्त रहा तो वह अपने कल्याणकी चिन्ता नहीं कर पायेगा। देवजन्मकी अपेक्षा मनुष्य जन्ममें भगवद्भजन और साधुसंगका सुयोग अधिक है। इसीलिये देवजन्मसे मानव जन्म श्रेष्ठ है।

मनुष्य-जीवनमें प्रति क्षण कुछ न कुछ ऐसी असुविधाकी घटनाएँ घटित होती है, जो हमें जागतिक भोगों एवं संसारकी क्षणभंगुरताका पग-पग पर सूचना देती हैं। परन्तु देवताओंके जीवनमें अपेक्षाकृत सुखकी अधिकता एवं निरवच्छिन्नताके कारण उनको भोगों एवं स्वर्गीय सुखोंकी क्षणभंगुरताकी उपलब्धि सहज ही नहीं होती। अतः मनुष्य जीवनमें

हमें मंगल और अमंगलको पहिचान कर अपना यथार्थ कल्याण करनेका यथेष्ट सुअवसर प्राप्त हुआ है।

प्रश्न—सर्वश्रेष्ठ उपकारी बन्धु कौन है ?

उत्तर—जो हरिनामकी ओर जीवको आकर्षित करते हैं, उनके समान सच्चा और उपकारी बन्धु इस संसारमें दूसरा नहीं है। हरिनाम-प्रचारकोंकी महा-वदान्यताके सामने करोड़ों-करोड़ों दाताकर्णोंके दान भी अत्यन्त तुच्छ और हेय हैं। जो जीवको ऐसे हरिनामका सुयोग प्रदान करते हैं, वे श्रीविग्रह-प्रतिष्ठा, विभिन्न स्थानोंमें हरिकथा और हरिनाम प्रचारकेन्द्र स्थापन, भक्ति शास्त्रोंके प्रकाशन और अधिकाधिक प्रचारके लिये मुद्रण-मंत्र स्थापन, धाम-परिक्रमा प्रवचन एवं पारमार्थिक प्रदर्शनी—आदि नाना प्रकारसे भगवद्विमुख जीवको भगवानकी ओर खींचनेका प्रयत्न करते हैं, जिससे उनका यथार्थ कल्याण हो जाय। सोते समय, भोजनके समय, जगते समय, परस्पर वार्त्तालाप करते समय, अपने प्रत्येक कार्योंमें मनुष्य जिससे मूल आकर वस्तु—भगवान के साथ सम्बन्धित रह सके—इसीके लिये शास्त्रोंमें साधु-संग और श्रीविग्रहका इतना महत्व दिखलाया गया है।

प्रश्न—कृपा या शक्ति किस प्रकारसे पायी जा सकती है ?

उत्तर—ऐकान्तिक रूपसे श्रीगुरुदेवके चरणोंमें आश्रय लेने पर गुरुदेव उस शरणागत जीवके हृदय में कृष्ण-शक्तिका संचार करते हैं। वही कृपा-शक्ति सेवाद्वारा पुष्ट होकर क्रमशः सम्पूर्ण अनर्थोंका ध्वंश करती है। परन्तु सेवा छोड़ देनेसे अथवा सेवा के प्रति उदासीन होनेसे वे अनर्थसमूह पुनः प्रबल हो पड़ते हैं तथा मूल कृष्ण-शक्ति भी क्रमशः क्षीण होकर अन्तमें सम्पूर्णरूपसे तिरोहित हो जाती है। जैसे कोई बीज लगाने पर उसे यत्न-पूर्वक समय-समय पर जल द्वारा सींचनेकी आवश्य-कता होती है। यदि उपयुक्त सींचाई की गयी तो बीज अंकुरित होता है। अब उसकी उपयुक्त रक्षा और पुनः सींचाई होने पर अंकुर धीरे-धीरे पुष्ट होकर विराट वृक्षका रूप धारण कर लेता है। ठीक उसी प्रकार गुरुप्रदत्त कृष्ण-शक्तिको भजन और साधु-संग द्वारा पुष्ट करना चाहिये और रक्षा द्वारा क्रमशः बढ़ना चाहिये।

प्रश्न—भक्ति और अभक्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर—इन्द्रिय-ज्ञानका त्याग न करनेका नाम अभक्ति है। इस अभक्तिकी तीन धाराएँ हैं—अन्या-भिलाष, कर्म और ज्ञान। अपने और दूसरोंके इन्द्रिय-सुखकर भोगोंकी व्यवस्था या सुविधाका नाम ही कर्म है। न सुविधा करूँगा, न असुविधा ही—निरपेक्ष रहूँगा, इसका नाम—ज्ञान है। इन्द्रियज ज्ञान और निर्विशेष ज्ञान—इन दोनोंको छोड़कर इन्द्रियातीत अधोक्षज—वस्तु श्रीहरिका प्रीतिविधान करना ही भक्ति है। भोग और मोक्ष—इन दोनोंके पंजोंसे छुट-कारा नहीं मिलनेसे भक्तिकी भूमिका आरम्भ नहीं होती।

प्रश्न—दुर्बल और अपराधीमें क्या अन्तर है ?

उत्तर—दुर्बल और अपराधी ठीक-ठीक एक श्रेणीमें नहीं हैं। यद्यपि दुर्बलता ही आगे चलकर अपराधके रूपमें बदल जाती है, तथापि दुर्बलताकी सीमामें कामनारूप पाप और अपराधके प्रति घृणा है। दुर्बल व्यक्ति पाप और अपराधको अत्यन्त अन्याय जान कर भी उसका परित्याग करनेमें असमर्थ होता है। दूसरी तरफ अपराधी उनको अन्याय ही नहीं मानता। वह जो कुछ करता है, जो कुछ समझता है, अपनी समझसे ठीक करता है और ठीक समझता है। बल्कि यथार्थ साधुलोग ही भूलकर रहे हैं—उसे ऐसा प्रतीत होता है।

दुर्बल व्यक्ति कामनाको आदर और रुचिपूर्वक ग्रहण न करके उसे अनादर और घृणाकी दृष्टिसे देखेंगे और क्रमशः त्याग करेंगे। ऐसा होनेसे ही ऐसा समझा जायगा कि उसके प्रति भगवानकी कृपा हो रही है।

प्रश्न—हरिजन कौन है ?

उत्तर—आजकल 'हरिजन' शब्दका अपव्यवहार हो रहा है। वास्तवमें 'हरिजन' कहनेसे भगवानके प्रिय भक्तोंका बोध होता है, जिनको अपने स्वरूपकी उपलब्धि हो चुकी होती है। जिस किसी भी कुलमें पैदा क्यों न हों, बाहरी परिचय कुछ भी क्यों न हो, सद्गुरुका पदाश्रय करके ऐकान्तिक भावसे हरिकाभजन करनेवाला ही 'हरिजन' है। उनमें भगवत् सेवाके अतिरिक्त कोई भी दूसरी कामना नहीं होती। जिनको अपने स्वरूपकी उपलब्धि नहीं होती, ऐसे अवैष्णव-जनोंको 'हरिजन' कहना असंगत और अशास्त्रीय है। यह बात ठीक है कि प्रत्येक जीव ही स्वरूपतः हरिजन है; परन्तु विरूपगत अवस्थामें हरिजनत्वका परिचय नहीं है। पहले उनका स्वरूप उद्बुद्ध हो, वे भगवान की सेवा करें, फिर उनको हरिजन कहनेमें हमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती है। प्रत्येक धानमें ही चावल है—यह सर्वथा सत्य है, परन्तु धान ही चावल है—यह बात गलत है। धानका आवरण दूर होने पर ही उसे चावल कहा जाता है। उसी प्रकार जीवमात्र ही हरिदास या हरिजन हैं; परन्तु जीव जब हरिसेवामें नियुक्त हो जाता है, तभी वह हरिजन कहलावेगा, उससे पहले नहीं।

प्रश्न—कुछ लोग कहते हैं कि—सभी बराबर हैं, सभी समान हैं—क्या यह विचार ठीक है ?

उत्तर—सत् और असत, भक्त और अभक्त, पापी और पुण्यवान्, शिक्षितऔर अशिक्षित, देवता और भगवान, सती और असती, धर्म और अधर्म प्रकाश और अंधकार तथा झूठ और सच—ये सब कैसे एक समान हो सकते हैं ?

जो आभ्यन्तरीन वस्तुकी खबर नहीं रखते, जिनके भीतर वस्तु-तत्त्वका सूक्ष्मानुसूक्ष्म विचार प्रवेश नहीं कर पाया है, उन मूर्खोंके लिये सब कुछ अच्छा है। कोई निरक्षर मूर्ख लड़का यह कह सकता है कि मैंने जो लिखा है (झूठ-मूठकी लकीरें) उसका अर्थ क्यों नहीं होगा ? यदि शिक्षित मनुष्यके द्वारा लिखे हुए का अर्थ होता है, तो मेरे लिखे हुए का भी अर्थ अवश्य होना चाहिए। झूठ-मूठ अर्थ-हीन लकीरों और अर्थ-सूचक शब्दोंको एक समान नहीं माननेसे अशिक्षित गँवार व्यक्ति उसमें साम्प्रदायिकता और पक्षपातका दोष लगाता है। ठीक उसी प्रकार जो लोग भगवत्-तत्त्व, भगवत्कथा और सत्य सिद्धान्तोंकी आन्तरिक खबर नहीं रखते—ऐसे जनमत के सामने अपील (appeal) करने से वे यह कहेंगे—यथार्थ सिद्धान्तको बतलाना ही साम्प्रदायिकता है तथा असत् सिद्धान्तोंका खण्डन करना ही निन्दा है। उनका मत यह है कि—जब हम बिलकुल ही कुछ नहीं जानते हैं, कुछ नहीं समझते हैं, तब हमारे लिये 'सब समान हैं' यही कहना युक्तिसंगत और अच्छी बात है। ऐसा कहनेसे सभी दलोंको सन्तुष्ट रखा जा सकता है तथा किसीका भी बुरा नहीं हुआ जा सकता है। परन्तु क्या इसीसे सत्य और असत्य, भक्ति और अभक्ति एक समान या एक हो जायँगे। निश्चय ही एक नहीं हो सकते। जिनको भक्ति नहीं है, वे भगवत् सेवाकी आवश्यकता अनुभव नहीं करते। जो वास्तविक कल्याण नहीं चाहते, भोग या प्रतिष्ठा ही जिनके जीवनका उद्देश्य है, वे विद्धा और शुद्धा भक्तिको एक समान ही समझेंगे।

प्रश्न—शुद्धभक्त श्रीगुरुदेवको किस रूपमें देखते हैं ?

उत्तर—साधारण लोग गुरुको जिस रूपमें देखते हैं, अन्तरङ्ग भक्तजन उनको किसी दूसरे ही रूपमें देखते हैं। शुद्ध भक्तजन श्रीगुरुदेवको अपना परम बन्धु, कृष्णका प्रियतम, प्रेमकी मूर्त्ति, नित्यसेव्य, प्राण-धन और जीवन-सर्वस्व मानते कहते हैं। श्रीगुरुदेव श्रीकृष्णके परम प्रियपात्र और उनसे अभिन्न हैं। श्रीगुरुदेवकी सेवाको छोड़कर कृष्णकी सेवा प्राप्त करना असम्भव है। जो गुरुदेवकी सेवा

करते हैं, वे ही सच्चे वैष्णव या भगवद्भक्त हैं। इनके अतिरिक्त सभी—अहङ्कारविमूढ़ात्मा हैं अर्थात् सहज शब्दोंमें अन्याभिलाषी अथवा भोगकी वासना वाले हैं। परन्तु आपलोग यह लिखकर रखलें कि मनुष्य न भोगी हो सकता है और न त्यागी ही।

पापियोंकी चर्मचक्षुओंसे गुरुदेवके चरणकमलोंका दर्शन नहीं होता, बल्कि उनसे भोग्य पदार्थोंके दर्शन करनेकी आकांक्षा होती है। मनुष्यदर्शन—गुरुदर्शन नहीं है। गुरुके प्रति मनुष्यबुद्धि रखनेसे नरक भोग करना पड़ता है। श्रीगुरु—लघु या मनुष्य नहीं हैं; वे ईश्वर हैं, वे भगवानके प्रियजन हैं, महापुरुष हैं, महाजन हैं और हैं—नामाचार्य कृष्णप्रेष्ठ।

प्रश्न—शरणागतका लक्षण क्या है?

उत्तर—अपना कर्त्तृत्व-त्याग ही शरणागत पुरुषका लक्षण है। कर्त्तृत्वका त्याग करके कृष्णको पालनकर्त्ताके रूपमें वरण करना ही शरणागतिका स्वरूप लक्षण है। आश्रित व्यक्तिको कर्त्तृत्वकी तनिक भी आवश्यकता नहीं होती। श्रीवृषभानु-नन्दिनीकी पाल्यदासी होनेकी अभिलाषा उत्पन्न होने पर इस जगतका कोई भी क्षुद्र अभिमान हमारे हृदय पर अधिकार नहीं जमा सकता। मैं कृष्णके आश्रित हूँ—ऐसा अभिमान न होने तक शरणागति या आश्रित नहीं हुआ जाता। उस समय पिता-अभिमान, कर्त्ता-अभिमानका होना स्वाभाविक है।

प्रश्न—हमारा विघ्ननाश और अभीष्ट पूर्ण क्यों नहीं हो रहा है?

उत्तर—इसका कारण यह है कि भगवदभिन्न श्रीगुरुदेवमें हमारी अभी तक मनुष्यबुद्धि एवं मर्त्य-बुद्धि है; इसलिये दोषदृष्टि दूर नहीं हुई है और इसीलिये हम अभीतक निष्कपट रूपसे उनके श्रीचरण-कमलोंमें आत्मसमर्पण नहीं कर पाये हैं। वेदवाक्यों, श्रीमद्भागवतवाक्यों तथा गीतावाक्योंका उल्लंघन करके गुरुके प्रति मनुष्यबुद्धि, वैष्णवोंमें जातिबुद्धि और भगवानके अर्च्चावतार श्रीविग्रहमें शिला, पत्थर, काष्ठ या मिट्टी-बुद्धि रखनेके कारण ही हमारी यह दुर्दशा है।

प्रश्न—जीवका कर्त्तव्य क्या है?

उत्तर—व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही एकमात्र काम-देव हैं—सबके एकमात्र नित्य सेव्य हैं। उनकी सेवा ही जीवका नित्यधर्म या कर्त्तव्य है। भगवत् सेवा भूल कर ही जीव कभी 'मैं खुदा हूँ' ऐसा मानकर 'अहं ब्रह्मास्मि'की भ्रान्त धारणासे निर्विशेष ज्ञानी हो पड़ता है। कभी भोगी बन कर वर्णाश्रम-धर्मका पालन करनेके लिये व्यस्त हो पड़ता है। इसीलिये कहता हूँ—'जीवो! आप लोग दंभ-अहङ्कार, स्त्रीपूजा और स्त्रैणभावका परित्याग करें और श्रीरूपमञ्जरीके आनुगत्यमें श्रीमती राधारानीकी पाल्यदासीका अभिमान ग्रहण करें। व्रजगोपियोंके आनुगत्यमें सदा-सर्वदा श्रीराधाकृष्ण युगलकी सेवामें नियुक्त हों।

प्रश्न—श्रीनाम-ग्रहणके समय जड़-चिन्ताएँ क्यों आती हैं?

उत्तर—निर्बंध अर्थात् संख्यापूर्वक अतिशय यत्न और आग्रहके साथ कृष्णनाम ग्रहण करनेसे अवश्य ही कल्याण होता है। श्रीनाम करनेके समय जड़-चिन्ताएँ आती हैं—इसीलिये श्रीनाम ग्रहणमें तनिक भी शिथिलता न आने देंगे। श्रीनाम लेते-लेते क्रमशः व्यर्थकी चिन्ताएँ दूर होती जायेंगी। अतः इसके लिये अधिक घबड़ानेकी आवश्यकता नहीं है। पहले ही फलकी संभावना नहीं है। कृष्णनाममें अतिशय प्रीतिका उदय होने पर जड़-चिन्ताएँ अपने आप ही दूर हो जाती हैं। कृष्णनाममें अत्यन्त आग्रह पैदा होनेसे पहले जड़-चिन्ताएँ कैसे रुक सकती हैं। तन-मन-वचनसे श्रीनामकी सेवा करनेसे ही श्रीनामी प्रभु अपना मंगलमय स्वरूप प्रदर्शन करते हैं।

प्रश्न—श्रीनाम ही साक्षात् कृष्ण हैं—ऐसी कब उपलब्धि होगी?

उत्तर—नाम और नामी अभिन्न हैं। हमारा अनर्थ दूर हो जाने पर ही हमें इसकी विशेषरूपसे उपलब्धि हो सकेगी। अपराधरहित होकर प्रीतिपूर्वक कृष्णनाम करनेसे ही आपलोग स्वयं समझ सकेंगे कि नाम द्वारा अनायास ही सब कुछ सिद्ध होजाता है।

नाम करते-करते अनर्थ दूर होने पर श्रीनाममें ही रूप, गुण और लीलाकी अपने-आप ही स्फूर्ति होती है। चेष्टा करके कृत्रिमभावसे रूप, गुण और लीला-का स्मरण नहीं करना चाहिये। जो नाम उच्चारण करते हैं, आत्माको ढकनेवाले स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंके क्रमशः नष्ट होने पर उनका सिद्धरूप उदित होता है। अपना सिद्धरूप उदित होने पर श्रीनाम करते श्रीनाममें ही अप्राकृत कृष्णरूपका दर्शन होता है। श्रीनाम ही जीवका स्वरूप उदय करवा कर स्वयं कृष्णरूपमें आकर्षण करते हैं। श्रीनाम ही जीवके स्वगुणोंका उदय करवाकर कृष्ण-गुणके प्रति आकृष्ट करवाते हैं। श्रीनाम ही जीवकी स्व-क्रिया उत्पन्न करवा कर कृष्णलीलाके प्रति आकर्षण करते हैं।

नामसेवा करनेसे श्रीनाम-सम्बन्धी अनुष्ठान आदिको भी उसके अन्तर्गत ही समझना चाहिये।

श्रीनाम करते-करते श्रीनामकी कृपासे ही सब कुछ होगा। शास्त्र-श्रवण, शास्त्र-पठन अथवा उस विषयके अनुशीलन द्वारा श्रीनामका स्वरूप उदित होता है।

प्रश्न—क्या करनेसे हमारा कल्याण होगा?

उत्तर—भगवानके चरणोंमें मति रखकर भगवान को पुकारनेसे ही हमारा कल्याण होगा। मैं तो यही जानता हूँ। आपलोग भी यही करेंगे—यही मेरी प्रार्थना है।

सांसारिक उन्नति और सांसारिक सुविधा एवं असुविधा प्रदान करनेके मालिक एकमात्र भगवान ही हैं। हम सभी उनके पाल्य और शरणागत हैं। हमारे प्रति उनका जो विधान या व्यवस्थाएँ हैं, उन सबको सिर झुकाकर ग्रहण करना ही कर्तव्य है।

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति मयूख भागवत महाराज
द्वारा संगृहीत

"तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि"

(समालोचना)

श्रीयुत शैलेन्द्र नारायण घोषालने अपने पिता शशिभूषण घोषालकी प्रेरणासे 'आलोकतीर्थ' नामक एक पुस्तक लिखी है। उस तीर्थमें महापापी लोग अव-श्य ही स्नान करेंगे। पापी पुरुष स्नान करके उस तीर्थ को और भी गन्दा और अपवित्र करेंगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

भगवद्भक्तोंके द्वाराही तीर्थस्थानोंकी मर्यादा एवं महिमाकी रक्षा होती है। कलिकालमें तीर्थक्षेत्रोंमें भी कभी कभी विपरीत भाव देखे जाते हैं। हमने सोचा था कि श्रीमान शैलेन्द्रनारायणघोषालकी "आलो कतीर्थ" कलिके मलिन तीर्थोंमें कुछ प्रकाश देकर जगतका कल्याण करेगी; किन्तु फल विपरीत ही देखा जा रहा है। उनकी आलोकतीर्थ साधारण जनताके हृदयको और भी दूषित बनाकर वहाँ कलियुगोचित अन्धकारका ही विस्तार कर रही है।

आजकल कलियुगके प्रभावसे अनेक प्रकारके अपसम्प्रदायोंकी भरमार है। 'आलोकतीर्थ' के लेखक शैलेन्द्र घोषालने शुद्ध सम्प्रदायोंके आचार्योंका

आनुगत्य ग्रहण न करके केवल अपसम्प्रदायोंके घृणित असिद्धान्तों एवं शास्त्र विरुद्ध विचारोंको ही आलोक समझा है। वे अमावस्याके अन्धकारको ही सूर्यका आलोक बतलाना चाहते हैं—यह देखकर हम क्षुब्ध और व्यथित हुए। आपने लिखा है—

"सत्यदेवता हमारे भीतर ही हैं। अन्तर्मुखी होनेकी चेष्टा करो। अन्दरके महासत्यमें लौट आओ। वहाँ विचित्रता है, किन्तु विरोध नहीं है।"

किन्तु उनके लिखनेका ढङ्ग देखकर ऐसा पता चलता है कि अन्दरके देवतासे अभीतक उनका साक्षात्कार नहीं हुआ है। जिस प्रकार सूर्यका दर्शन न होनेसे अन्धकारपूर्ण रात्रिमें कुछ भी दिखलायी नहीं पड़ता है। उस अन्तर्देवता (भगवान) रूप सूर्यका दर्शन न होनेसे अज्ञानरूप अन्धकार दूर नहीं हो सकता। भगवानकी कृपासे द्रष्टाका दर्शन वैचित्र्यपूर्ण होनेपर भी वहाँ विरोधका दर्शन नहीं होता।

शैलेन्द्र घोषाल पूर्व-पूर्व महातेजस्वी आचार्योंका यथार्थ मार्ग छोड़कर जिस भूल पथपर चल रहे हैं, उससे उनका कभी भी कल्याण नहीं हो सकता। जगतके लोग मत्सर हैं। दूसरोंकी उन्नति देखकर द्वेष करना ही बद्ध-जीवका नित्यरोग है। सत्यदेवता (भगवान) का दर्शन करनेके लिए निर्मत्सर (द्वेष-बुद्धि रहित) होना पड़ेगा। सत्यदेवता (भगवान) एक inert matter या जड़ पदार्थ नहीं हैं। वे पूर्ण-चेतन तत्व हैं। शैलेन्द्रबाबूने यह स्वीकार किया है कि जीवात्मा उस दयाल परमेश्वरका अंशमात्र है। इसलिये जब पूर्णचेतन परमदयाल भगवान क्षुद्रचेतन जीवात्मापर कृपा करते हैं, तब क्षुद्रचेतन जीवात्मामें स्वाभाविक रूपसे ही समस्त सद्गुणोंका उदय होता है। जीवात्मा मुक्त और निर्गुणावस्थामें जब निर्गुण भगवानकी कृपा प्राप्त करता है, उस समय उससे सद्गुणोंकी सुन्दर और दिव्य सुगन्धि फैलकर सम्पूर्ण दिशाओंको आमोदित कर देती है।

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः॥
(भाः ५।१८।१२)

अर्थात् जिनकी भगवानमें अहैतुकी भक्ति है, उनमें समस्त सद्गुण स्वाभाविक रूपसे निवास करते हैं; किन्तु जो भगवद्भक्त नहीं है, वे महान् गुणोंके अधिकारी नहीं हैं। क्योंकि वे विभिन्न प्रकारके मनोरथोंसे परिचालित होकर बहिरङ्गा माया द्वारा असत् वस्तुकी ओर ही आकृष्ट होंगे।

"फलेन परिचीयते" इस न्यायके अनुसार यह देखा जाता है कि घोषाल महाशयके हृदयमें इतनी कपटता भरी हुई है कि उन्होंने—श्रीशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीविष्णुस्वामी, श्रीनिम्बादित्य, श्रीधरस्वामी, श्रीचैतन्यदेव, श्रीजीव गोस्वामी पाद, श्रीमधुसूदन सरस्वती, श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर और श्रीबलदेव विद्याभूषण आदि मध्ययुगीय महात्माओं और आचार्यों एवं नारद, व्यास, देवल असित आदि वैदिक आचार्य महात्माओंका पथ परित्यागकर विद्धवैष्णवोंका अनुकरण करनेवाले नानक और कबीर आदिका पथ अवलम्बन किया है। उसके द्वारा कदापि उनका कल्याण नहीं हो सकता। आचार-प्रचार, मन्दिर, विग्रह और कर्मकाण्ड—ये सब केवल ढकोसले नहीं हैं। व्यावहारिक विचारसे भी कनिष्ठाधिकारीके लिए इनकी बड़ी आवश्यकता है। नवीन पंथी अन्धकारका आश्रय करनेवाले शैलेन्द्रबाबूने उनको अनावश्यक और ढोंग बतलाते हुए लिखा है—

"होम आरति बीयेर बाति,
तप-तपस्यार आडम्बर।
जप,योग,नाम न्यास—प्राणायाम,
कबर नाको अतःपर॥
काज कि मिछा जंजाले।
कि हबे मोर चक्षु मुदे
आसन पेते बाघ छाले॥

तुमि आमार इष्ट पितः
तुमि आमार दयाल गो ।
दाओ चरणेर पुण्यधूलि
आशिष तोमार महार्घ्य ॥

यहाँ शैलेन्द्रबाबूने भी यह स्वीकार किया है कि भगवानका आशीर्वाद एवं उनके चरणोंकी धूलि परम पूजनीय वस्तु है। वह परम पूजनीय वस्तु केवल मौखिक रूपसे माँगनेसे ही नहीं मिलेगी। जिस प्रकार घरका नौकर तम्बाकू भरनेकी आज्ञा पाते ही हुक्का भर कर उपस्थित कर देता है, परन्तु भगवान उस प्रकारसे हुक्म तामील करने वाले अर्दली (Order supplier) नहीं हैं। वे शैलेन्द्र घोषालकी भाषामें ही 'कुल मालिक' अर्थात् सर्वेश हैं, एकमात्र भोक्ता हैं। उनके पास पहुँचनेके लिए बड़ेसे बड़े ज्ञानीको भी जन्म जन्मान्तर तक तपस्या करनी होती है—'बहूनां जन्मनामान्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते'। अनन्त कोटि जीवात्माएँ अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमें व्याप्त हैं। उनमें-से कोई विरला महाभाग्यवान जीव ही उस परम दयालु भगवान्का अनुसंधान प्राप्त कर जन्म-जन्मान्तरोंके साधनोंके पश्चात् उनके नित्य धाममें पहुँच पाता है। महात्मा आचार्यगण उसी परमेश्वरके नित्य धामका संदेश देश-काल-पात्रके अनुसार योग्यताका विचार कर उपयुक्त जीवको प्रदान करते हैं। अल्प बुद्धिवाले शैलेन्द्र घोषालने तोता पक्षीकी भाँति बहुत कुछ बका है; यदि उनको उन बातोंका अनुभव होता तो वे पूर्व आचार्योंका परित्यागकर, केवल मात्र नानक-पंथी ग्रन्थसाहब या कबीरकी कच-कचाहटको प्रकाशकर अपनी दुर्बुद्धिताका परिचय नहीं देते। विशेषतः वे एक स्वधर्मत्यागी हैं—ऐसे ऐसे काला पहाड़की बात कौन सुनेगा ? (क्रमशः)

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्तस्वामी महाराज

सनातन-धर्म

जड़ जगत् परिवर्त्तनशील है। आज जो नवजात शिशु है, कल वही प्रफुल्लवदन बालक होता है, पुनः वही वीर्यवान् युवक, धीरे-धीरे प्रशान्तमूर्त्ति प्रौढ़ और अन्तमें सफेद केशवाला और दन्तहीन वृद्ध हो जाता है। स्निग्ध प्रभात किरणें देखते-देखते प्रखरसे भी प्रखर होती और पुनः अन्धकारमें विलीन हो जाती हैं। आज जहाँ अत्युच्च पर्वतश्रेणी विराजमान है, कल वहीं अथाह समुद्र अवस्थित देखा जाता है। सागर सूखता है, मरुभूमि जलसे प्लावित होती है। आज जो लोगोंसे परिपूर्ण और चहकती हुई राज-धानी है, कल वही श्मशानमें परिणत हो जाती है। इतिहास इसका साक्षी है। यह जगत् हेयता और अनुपादेयता (घृण्य) से परिपूर्ण है। प्राणसे भी प्रिय पुत्र अपने हाथसे पिताको विष देकर राज्य प्राप्त करता है। प्रियतमा पत्नी उपपतिकी सहायतासे अपने स्वामीके हृदयमें अस्त्राघात करती है और सहोदरभ्राता अपनेही भ्राताके सर्वनाश-साधनमें तत्पर होता है। निर्दोष दण्ड पाता है और खूनी बेकसूर साबित हो जाता है। यह हम प्रति क्षण देख रहे हैं। इस रङ्ग-मञ्चपर नित्य और निर्मल आनन्दका पूर्ण अभाव है। बहुत अच्छा हूँ, कोई अभाव नहीं है—सुन्दर रूप, अनेक सद्गुण, अद्भुत पाण्डित्य, आश्चर्यमयी बुद्धि, अतुल ऐश्वर्य, सुबृहत् अट्टालिका, पति-प्राणा पत्नी, सोने और चाँदीके सामान, पुत्र और कन्या, सब कुछ है। अकस्मात् कहींसे भवदावाग्नि जल उठी—एक मुहूर्त्त में सब भस्मीभूत हो गया। पण्डित मूर्ख हो जाता है मूर्ख पण्डित हो जाता है। ज्ञानी अज्ञानी, अज्ञानी ज्ञानी हो जाता है। धनी दरिद्र और दरिद्र धनी हो

जाता है। उसी प्रकार बलवान दुर्बल और दुर्बल बलवान् हो जाता है। इस प्रहेलिकाके मध्यमें नित्य सत्य वस्तुका संवाद क्या प्राप्त किया जा सकता है ?

रोम, ग्रीस और चीनके मनीषिवृन्द एवं भारतीय विद्वत् सम्प्रदायके जड़वस्तुसमूहकी धारणाओंके इतिहासकी विशेषरूपसे आलोचना करनेपर ज्ञात हो जाता है कि उन्होंने जिसे सत्य समझकर ग्रहण किया था, वही धारणा कालान्तरमें शिक्षाके प्रभावसे परिवर्त्तित होती जाती है। काम और क्रोधसे अभिभूत (ग्रसित) व्यक्तिकी धारणा मायिक होनेसे दूसरा ही आकार धारण कर लेती है। हम अपने जीवनकी आलोचना करके भी देखते हैं कि कभी-कभी हमारी धारणाएँ भी अद्भुतरूपसे परिवर्तित होती रहती हैं। प्रति वर्ष, प्रति मास, प्रति दिन, प्रति घण्टे, प्रति मिनट, प्रति मुहूर्त्त हम यह परिवर्त्तन देखा करते हैं। तो क्या नित्य, सत्य, उत्कृष्ट और निर्मल आनन्द प्राप्त करनेकी आशा नहीं है ?

सत्यानुसन्धानकी इच्छासे सनातन धर्मपर विचार करनेसे उक्त प्रश्नका यथार्थ उत्तर मिल जाता है। सनातन धर्म क्या है ? सनातन धर्म किसका धर्म है ? सनातन धर्मकी आवश्यकता क्या है ? एवं किस प्रकार उसका पालन किया जा सकता है ?—इन सब प्रश्नोंपर विचार करना प्रत्येक मनुष्यका कर्त्तव्य है। अनित्य और नश्वर वस्तुओंको छोड़कर शेष सभी सनातन अर्थात् नित्य वस्तुओंमें सनातन धर्म नित्य विराजमान रहता है। नित्यानन्दका उद्गम स्थान यहीं है।

गीताका कहना है कि क्षिति, जल, पावक (अग्नि) आकाश, हवा और मन, बुद्धि, अहङ्कार भगवान्की अपरा प्रकृतिसे बने हैं अर्थात् प्राकृत हैं। अतः पञ्चभूतात्मक देह और मन प्राकृत हैं। प्राकृत वस्तुएँ परिवर्त्तनशील हैं, उनलोगोंका धर्म भी परिवर्त्तनशील है। इसलिये देह और मनका धर्म सनातन नहीं है। भगवान्की पराप्रकृति जीव, अपरा प्रकृतिसे नहीं उत्पन्न हुआ है। भगवान् प्रकृतिके अन्तर्गत वस्तु नहीं हैं—वे अप्राकृत हैं। जीव कहनेसे देह और मनका नहीं बोध होता, बल्कि उससे चित्कण आत्माका निर्देश होता है।

असूर्य्यानाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

जो आत्म-हत्या करनेवाले हैं, वे आसुरी वृत्तिका अवलम्बन कर (अज्ञानसे ढके हुए) नाना प्रकारका कुतर्क करते हैं। चित्तमें नाना प्रकारकी विकृति देखते हैं। आत्माका सन्धान पानेसे ही विकार हट जाता है। आत्मा नित्य है, उसका धर्म भी नित्य अर्थात् सनातन है। आत्माकी नित्यवृत्ति शुद्ध भक्ति ही सुनिर्मल सनातन धर्म है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके ऊपर पञ्चम पुरुषार्थ भगवत् प्रेम ही प्रयोजन या फल है। जीव स्वरूपतः भगवद्दास है। आत्म वृत्ति भगवद्दास्यका स्वाद पाते ही जीव कहने लगता है—

नास्था धर्म्मे न वसुनिचये नैव कामोपभोगे,
यदयद्भव्यं भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपं।
एतत् प्रार्थ्यं मम बहुमतं जन्मजन्मान्तरेऽपि,
त्वत् पादाम्भोरुहयुगगता निश्चला भक्तिरस्तु॥

उस समय इस जगत्की कोई असुविधा उसके हृदयमें स्थान नहीं पाती। अप्राकृत जीव बन्धनावस्थामें स्थूल और सूक्ष्म दो प्राकृतिक उपाधियोंमें आबद्ध रहनेके कारण अप्राकृत तत्त्वकी उपलब्धि नहीं कर सकता है। जड़देहके गुणोंकी आलोचना करते-करते मनके सभी भाव उदित होते हैं, इस कारण मनुष्योंकी कल्पना रूप चिन्ताएँ और धारणाएँ प्रकृति-मूलक हैं। इससे वे अप्राकृत नहीं हो सकती सनातन धर्म अप्राकृत तत्त्व है। यह सत्य वस्तु अवरोह-पथसे (श्रौत पथसे, आम्नाय पथसे) श्रीभगवान् से ब्रह्माके हृदयमें प्रकट हुई थी। ब्रह्मासे नारद, नारदसे व्यास एवं व्याससे आम्नाय—परम्परामें वैयासिक सम्प्रदायने उस वस्तुको प्राप्त किया है। महाजनोंका कितना सुन्दर गान है:—

"भ्रमिते-भ्रमिते यदि साधुसङ्ग हय ।
पुनरपि गुप्त नित्य-धर्मेर उदय ॥"

सूर्य जिस प्रकार मेघ द्वारा ढक जाता है, सनातन धर्म भी उसी प्रकार काल-प्रभावसे आवृत रहता है; पर वह नित्य वर्तमान रहता है । सनातन धर्मके छिप जानेपर भगवान् स्वयं अवतीर्ण होते हैं, या कभी पार्षदभक्तोंको भक्तावताररूपसे प्रेरण करते हैं । नित्य-मुक्त भगवद्भक्त कभी भी माया-द्वारा अभिभूत (आकृष्ट) नहीं होते । वे बद्धजीवके सदृश स्वतन्त्रता का असद्व्यवहार न कर सर्वदा सनातन धर्ममें अवस्थित रहते हैं । प्राकृत धारणासे युक्त चित्त अप्राकृत वस्तु धारण करनेके योग्य नहीं है । काय, मन और वाक्य द्वारा भगवान् और उनके भक्तोंका दासत्व करनेके पहले सुनिर्मल सनातन-धर्मका आस्वादन नहीं हो सकता । प्राकृत और अप्राकृत, नित्य और अनित्य, आत्म और अनात्म, भक्ति और भुक्ति—इन सबोंके पार्थक्यका ज्ञान सद्गुरु-चरणाश्रय कर विशेष रूपसे प्राप्त किया जाता है । जो ऐसा न कर परमार्थके साथ शारीरिक, मानसिक, लौकिक, व्यावहारिक, नैतिक और सामाजिक भावोंका सम्मिश्रण करते और अपनी एक अलग सृष्टि निर्माण करते हैं उनकी वह सृष्टि सनातन नहीं हो सकती । देह और मनकी मङ्गल कामना करनेवाले प्रचारक अनात्म प्रतीतिमें अवस्थित होकर परमार्थस्मृतिके साथ इतर स्मृतिके समन्वय करनेका प्रयास करते हैं । कर्मविद्ध और ज्ञानविद्ध भक्तिका आदर करते हैं । शुद्ध भक्त इसको महत्व नहीं देते । किन्तु सीधे सादे लोग इन बातोंमे विषम समस्यामें पड़ जाते हैं । बद्धावस्थाके कारण भोगमें लीन होकर मनके अनुकूलको ही सनातन धर्म समझकर लोग भ्रममें अन्धे हो रहे हैं—उन्हें शुक्तिमें रजतका (चांदी) भ्रम हो रहा है । दुग्धमें घीके मौजूद रहने पर भी प्रज्ज्वलित अग्निमें वही दूध डालनेसे वह अग्नि बुझ जाती है, किन्तु उसी दूधसे घी निकालकर उस बुझी जाती हुई अग्निमें डालनेसे वह प्रज्वलित हो उठती है । वस्तुतः शुद्धभक्ति या पराभक्ति ही आत्मधर्मविकासके अनुकूल है, विद्धभक्ति उसके प्रतिकूल है । शुद्धभक्ति या पराभक्तिको ही सनातन धर्म, नित्यधर्म, आत्मधर्म या जैवधर्म कहते हैं । भगवान् नित्य है, भक्त नित्य हैं और भक्ति नित्य है । ये तीनों वस्तुएँ आनन्दमय हैं । वहाँ अनित्यता, हेयता वा अनुपादेयताका स्थान नहीं है ।

हमलोग जिस समय भोगकी अनित्यता, मायावादीकी ईशविमुखता एवं देह और मनकी परिवर्त्तनशीलताकी उपलब्धि कर श्रद्धान्वित चित्तसे सद्धर्माश्रयके लिये व्याकुल होते हैं, उस समय यह समझनेका अवसर मिलता है कि हमलोग चिद्वस्तु हैं एवं वृन्दावन ही हमलोगोंका नित्यधाम है । माया द्वारा सृष्ट इस संसार वृक्षके कोटरमें पक्षीके समान कुछ दिनके लिये वास कर रहे हैं । जड़बुद्धिसे भोक्ताके रूपमें नश्वर जड़का अङ्गीकार करनेके कारण और अनात्म देह और मनमें आत्म-वस्तुका भ्रम उत्पन्न हो जानेके कारण हमलोगोंका सर्वनाश हुआ है ।

जो नित्य अवस्थित है, वही 'सत्' है । 'असत्' परिवर्त्तन और ध्वंशशील है । सद्गुरुसे दीक्षा, सत्सङ्ग और सच्छास्त्र अध्ययन करते-करते अनर्थके कट जानेपर समस्त असत् धारणाएँ चली जाती हैं उसी समय नित्यतत्वका रहस्य प्रकाशित होता है । उसी समय "ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते" इस श्लोकका तात्पर्य हृदयङ्गम होता है । मेघके हटते ही सौभाग्य सूर्यकी रश्मि (किरण) दिखलाई पड़ती है, चक्षु उन्मीलित होता है, और बधिरता नष्ट होती है । उसी समय हमलोग श्रीगुरुदेवका "कोटिचन्द्र सुशीतल" पदकमल दर्शन कर अमरत्व प्राप्त कर सकते हैं । अपना कार्पण्य और भगवत् प्रीतिहीनताका ज्ञान होते ही आंसुओंसे छाती प्लावित हो जाती है ।

अज्ञान-तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

—कहते-कहते उनके चरणकमलोंमें लोटने लगते हैं। उस अप्राकृतचरणाश्रयसे हृत्कर्णरसायन हरिकथा सुनते-सुनते चक्षु-कर्णका विवाद और मनका समस्त सन्देह मिट जाता है मानव-जीवन सार्थक हो जाता है। सच्छास्त्र और असच्छास्त्र, सद्गुरु और असद्गुरु, सत्सङ्ग और असत्सङ्ग, असल और नकल—सभी इस संसारमें वर्तमान हैं। तनिक भी असतर्क होनेसे असत् सत् प्रतीत होता है, मन ही आत्मा मालूम पड़ता है, देह देही मालूम पड़ता है, नश्वर जगत्को नित्यवासोपयोगी स्थान समझकर महाकर्म राज्यमें जीव आबद्ध हो जाता है और दुर्लभ मानव जन्म वृथा ही नष्ट हो जाता है। इसीलिये स्वभावतः करुणामय महाजनगण बद्ध-जीवकी बद्धदशा हटानेके लिये—उन लोगोंकी मोह चिन्ता तोड़ कर आत्मधर्मकी कथा सुनानेके लिये "प्रचार" कार्यकी व्यवस्था कर गये हैं—

"प्रति घरे-घरे गिया करे एइ भिक्षा।
भज कृष्ण, बल कृष्ण, कर कृष्ण शिक्षा॥

किन्तु हमलोग सांसारिक अनुभवोंसे (ज्ञानद्वारा) परिचालित होकर प्रत्येक मुहूर्तमें अपने-अपने सत्याभासको सत्य स्वीकार कर परस्पर कलह कर रहे हैं, शास्त्रोंकी कल्पित व्याख्याके विवादमें अग्रसर होकर अपनेसे निम्नतर स्थित जीवोंकी परमार्थ चेष्टाका पथ बन्द कर रहे हैं और दाम्भिकत के आश्रयमें घृणित जीवन यापन कर नरक पथके पथिक हो रहे हैं। भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा और करणापाटव हमलोगोंके चित्तमें उथल-पुथल मचा रहे हैं, हम मायाके ताण्डव नृत्यमें क्षणक्षण मुग्ध हो रहे हैं। यथेच्छाका आश्रयकर मनोविमानमें चढ़कर सुखकी कल्पनामें मायाके पीछे कितना दौड़ रहे हैं! बार-बार हार रहे हैं—हताश हो रहे हैं। त्रिताप ज्वाला से जलकर भस्म हो रहे हैं किन्तु तो भी आशासे विराम नहीं पाते—नित्य नये यत्नोंसे फिर कमर कस कर दौड़ते हैं। कभी धर्म, अर्थ कामका फल अनुसन्धान करनेके लिये कनक, कामिनी और प्रतिष्ठाकी प्राप्तिमें पटुता प्राप्त कर पुण्यवान् होना ही धर्म समझते हैं और कभी मुमुक्षु होनेकी पिपासामें अहंग्रहोपासक (अहङ्कार रूपी ग्रहकी उपासना करनेवाला) मायावादी होकर ईशवैमुख्यकी पराकाष्ठा प्राप्त करते हैं। स्वतन्त्रताका असद्व्यवहार कर अज्ञान ज्ञानका दास होकर दुर्दशाकी चरम सीमामें पहुँच गये हैं-स्वरूप-विभ्रम होनेसे (स्वरूप भूल जानेसे) क्या ही भयानक और कुत्सित अवस्थाके कीड़े हो पड़े हैं। हाय! हाय! हमारे ऐसे घोर दुर्दिनमें कौन मायाके कवलसे मुक्तकर नित्य परम आत्मीय श्रीभगवान्के निकट ले जायगा। कब हम प्राकृत जगत्के अन्दर वैकुण्ठ धामका संवाद पावेंगे। कब हम युक्तिको अपने अधिकारमें रखकर आत्ममङ्गल स्वरूप अच्युत विश्वासको (भगवद् विश्वासको) हृदयमें पोषण करनेमें समर्थ होंगे? कब हम अपनी क्षुद्रता और पाखण्डताको समझकर सभी प्राकृत अभिमानसे रहित होते हुए भगवद्भक्तोंके शरणापन्न हो सकेंगे? हाय, हाय! कब हमलोग आत्मप्रतीतिमें और कृष्णेन्द्रिय प्रीतिवाञ्छामें अनित्य कामनाको छोड़नेके योग्य होंगे। हे हरि! कब हमारा जड़ सम्बन्ध शिथिल होकर चित् सम्बन्ध प्रबल होगा? कब हमारा आत्म-धर्म स्वरूप-धर्म जागेगा। कब हम भक्तिको जीवका परम पुरुषार्थ समझते हुए श्रीगुरुपदाश्रय कर वृन्दावनमें अप्राकृत कामदेवकी उपासनामें निर्मलानन्दका आस्वादन प्राप्त करेंगे।

यह देखिये, माधुर्यैश्वर्यपति भगवान् श्रीनिवास हमें सान्त्वना प्रदान कर रहे हैं। यह सुनिये; कलियुगपावनावतार श्रीश्रीगौरसुन्दर अपने पार्षद भक्तोंके साथ प्रकट होकर "श्रीमद्भागवतसंग ही एकमात्र अवलम्बनीय है" इसकी शिक्षा दे रहे हैं। इसे एक बार सुनें, जीवन धन्य हो जायगा। पहला ग्रन्थ भागवत और दूसरा भक्तभागवतके आश्रयसे ही सत्य वस्तुकी उपलब्धि होगी एवं शोक, भय, मृत्युके कवलसे उद्धार पाकर हमलोग अमृत प्राप्त कर सकेंगे।

यस्मिन् शास्त्रे पुराणे वा हरिभक्तिर्न विद्यते ।
न श्रोतव्यं न मन्तव्यं यदि ब्रह्मा स्वयं वदेत् ॥
ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान् ।
संत एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्ग मुक्तिभिः ॥

इसी सर्वाराध्य महासमन्वयवाद अद्वयज्ञानोपासनाके प्रवर्त्तक श्रीमायापुरचन्द्रकी और उनके भक्तोंकी अभयवाणी शिरपर धारणकर, आइये हमलोग सत्यवस्तुके अनुसन्धानमें अग्रसर हों,—भावग्राही जनार्दन सभी अमङ्गल हटाकर हमें अभीप्सित सिद्धि निश्चय प्रदान करेंगे ।

श्रीगौराविर्भाव

रसिक शेखर श्रीकृष्णचन्द्र केवल जीवोंके ही नहीं, अपितु समस्त अवतारोंके भी मूल आश्रय एवं अंशी हैं । उन स्वयं भगवानका नित्य नवकिशोर, नटवर गोकुलविहारी, मुरलीधर नन्दनन्दन स्वरूप ही सर्वोत्तम स्वरूप है । श्रीकृष्णकी पराशक्तिके अनन्त रूपोंमेंसे संधिनी, सम्वित् एवं ह्लादिनी—ये तीन प्रधान शक्तियाँ हैं । उनमें चित् स्वरूपगत ह्लादिनीका सार—प्रेम है । प्रेमका सार भाव है और भावकी परम पराकाष्ठाको महाभाव कहते हैं । यह महाभाव ही मूर्तिमान रूपमें श्रीमती राधिकाजी हैं । वे सर्वगुणाधार एवं कृष्णकी समस्त कान्ताओंमें प्रधाना हैं । यद्यपि श्रीकृष्ण स्वयं पूर्णानन्दमय या आत्माराम हैं, फिर भी वे महाभाव स्वरूपिणी श्रीराधिकाजीके रूप-गुणसे सर्वदा मुग्ध रहते हैं ।

एक दिन श्यामसुन्दर श्रीनन्द-भवनमें खेल रहे थे । खेल हीमें वे शृङ्गार भवनके मणिमय दर्पणके सामने जा पहुँचे । दर्पणमें अपनी अतुलनीय रसराज-मूर्तिको देख कर स्वयं ही आश्चर्यचकित होकर मन ही मन बोले—"अहो ! यह सर्वोत्तम रूपधारी किशोर कौन है ? इस रूप माधुरीका आस्वादन एक मात्र श्रीवृषभानु नन्दिनी श्रीराधा जी ही करती हैं । जिस रूपको देख कर स्वयं मैं मोहित हो रहा हूँ, पता नहीं उस रूपमें कितना माधुर्य भरा पड़ा है ! श्रीमती राधिका मेरे प्रेमका आश्रय हैं, मैं उस प्रेमका विषय हूँ । इसलिये मैं आश्रय-जातीय सुखका आस्वादन नहीं कर पाता । अतएव आश्रयजातीय सुखका आस्वादन करनेके लिये मुझे आश्रयजातीय श्रीमती राधिकाका भाव अवलम्बन करना अनिवार्य है ।"—ऐसा सोच कर भगवान् श्रीकृष्णने श्रीराधाजीके भाव एवं कान्तिको ग्रहण कर जगतमें अवतीर्ण होनेका निश्चय किया—

अतएव सेई भाव अङ्गीकार करि ।
साधिलेन निज वांछा गौरांग श्रीहरि ॥

अर्थात् श्रीकृष्ण अपनी मनोभिलाषा पूर्ण करनेके लिये श्रीमतीराधिकाके भाव और कान्तिको ग्रहण करके श्रीगौरांग रूपमें अवतीर्ण हुए ।

१४०६ शकाब्दके माघ मासकी रातमें पं० जगन्नाथ मिश्रने एक बड़ा ही सुन्दर स्वप्न देखा कि उनके हृदयमें त्रिभुवन-सुन्दर श्याम-वर्णके एक शिशुने प्रवेश किया । क्षण भरमें उन्होंने फिर देखा कि वह शिशु उनके शरीरसे निकल कर बिजलीकी भाँति प्रकाश करता हुआ उनकी पत्नीके हृदयमें प्रवेश किया और उनके गर्भमें सुशोभित होने लगा । मिश्रने आजतक कभी भी ऐसे भुवनमोहन सुन्दर रूपका दर्शन नहीं किया था । उस दिव्य शिशुके सिर पर विविध रत्नोंसे जड़ा हुआ मोरमुकुट झलमल कर रहा था । गलेमें वनमाला और हाथोंमें मनोहर वंशी

सुशोभित हो रही थी। शरीर पर पीताम्बर लहरा रहा था। कानोंमें रत्नजड़ित कुण्डल दोदुल्यमान हो रहे थे। मिश्रजी उस शिशुके रूपको देख कर प्रेममें विभोर हो गये। उनके शरीरकी सुधबुध जाती रही। इसके बाद ही उनका स्वप्न टूट गया।

इस स्वप्नसे जगन्नाथ मिश्रने अनुमान लगाया कि श्रीशचीदेवीके गर्भसे अवश्य ही कोई महापुरुष अवतीर्ण होंगे और वे अपने माता-पिता दोनों ही कुलोंका उद्धार करेंगे। मिश्रजी बड़े ही बुद्धिमान पुरुष थे। वे स्वप्नकी बातको गुप्त ही रखना चाहते थे। परन्तु छिपाने पर भी वह बात छिपी नहीं। इसका कारण यह था कि उसी रातमें उनकी धर्मपत्नी श्रीशचीदेवीने भी ठीक वैसा ही स्वप्न देखा और पतिदेवको जगा हुआ देखकर स्वप्नकी बात बतलाना चाहा। परन्तु उनकी वाणी इतनी गद्-गद् हो गयी थी तथा आनन्दसे उनका गला इतना रुद्ध हो गया था कि उनके मुखसे एक भी शब्द न निकल सका। उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बहने लगी। वह शिशु कोई साधारण शिशु तो था नहीं, वह तो मन और वाणीसे सर्वथा अतीत, अप्राकृत नाम-रूप-गुण-लीला-परिकरसे युक्त सच्चिदानन्दमय अखिल रसामृतसिन्धु-स्वरूप था। उसका वाणीसे भी वर्णन करना असम्भव है। फिर शचीदेवी उसका किस प्रकार वर्णन करतीं?

परमबुद्धिमान मिश्रजी पत्नीका ऐसा दिव्यभाव देखकर बड़े आह्लादित हुए तथा उनके हृदयकी बात समझ गये। उन्होंने कहा—'नीलाम्बर तनये! तुम मुझसे कोई रहस्यकी बात कहनेके लिये उत्सुक दिखलाई पड़ रही हो। तुम क्या कहना चाहती हो? बोलो।'

शचीदेवीने अपनेको सम्भालकर बड़े ही मधुर स्वरसे कहा—'आर्य! आज रातमें मैंने एक स्वप्न देखा है कि एक दिव्य रूपधारी श्याम वर्णके शिशुने आपके हृदयमें प्रवेश किया। उसके सारे अङ्गोंसे करोड़ों सूर्योंकी ज्योतिको भी मात करनेवाली दिव्य ज्योति प्रकाशित हो रही थी। वह शिशु क्षण भर तक आपके हृदयमें रहकर पुनः मेरे हृदयमें प्रविष्ट हो गया। मैंने वैसा सौंदर्य जीवनमें कभी नहीं देखा। मैं उसका वर्णन करनेमें सर्वथा असमर्थ हूँ।'

पत्नीकी बात सुनकर जगन्नाथ मिश्र बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'प्रिये! मैंने भी ठीक ऐसा ही स्वप्न देखा है। निश्चय ही हमारे घरमें किसी दिव्य महापुरुषका आविर्भाव होगा। परन्तु अभी इस बातको गुप्त रखना। किसीसे भी न कहना।'

इस घटनाके पश्चात् ब्राह्मण और ब्राह्मणी दोनों ही बड़े प्रेमसे नियमित रूपसे श्रीविष्णु, श्रीतुलसी, साधु, संन्यासी और अतिथियोंकी सेवा करने लगे। उनके गृहमें लक्ष्मीका वास हो गया। नाना-प्रकारकी सामग्रियोंसे उनका घर भर गया। परन्तु किसीको यह पता नहीं चलता था कि वे सामग्रियाँ कब और कहाँसे आ रही हैं। अब गाँव और पड़ोसकी स्त्रियाँ और पुरुष भी उनके घर आकर उन दोनोंसे बड़े प्रेमपूर्वक वार्तालाप करते। जहाँ साक्षात् भगवान श्रीशचीदेवीके गर्भमें विराजमान हैं, वहाँ समस्त मङ्गलमय लक्षणोंका प्रकट होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

इस समय भक्तवर श्रीअद्वैताचार्यके हृदयमें न जाने क्यों बड़ी शान्ति एवं आनन्द छा गया। ऐसा देख कर उन्होंने ऐसा अनुमान किया कि जिन प्रभुकी वे इतने दिनोंसे गङ्गाजल और तुलसीपत्र द्वारा आराधनामें तत्पर थे, वे अब अवतीर्ण होने जा रहे हैं। एक दिन तो उन्होंने आनन्दसे गद्गद् होकर भक्त-मण्डलीके बीच श्रीवास पण्डितसे कहा—"श्रीवास! भक्तोंकी आशा अब शीघ्र ही पूर्ण होने जा रही है। मेरे प्रभु चक्रधारी श्रीहरि इस जगतमें अवतीर्ण होनेवाले हैं।" इतना कहते-कहते उनके शरीरमें एक दिव्य भाव उदित हुआ। वे अपनेको संभाल न सके। उद्दण्ड भावसे नृत्य और कीर्त्तन करते-करते मूर्च्छित

होकर गिर पड़े। इससे श्रीवास आदि भक्तमण्डलीको यह दृढ़ निश्चय हो गया कि भक्तोंकी रक्षा करनेके लिये भक्त-वत्सल श्रीहरि शीघ्र ही आविर्भूत होनेवाले हैं। ऐसा जान कर उन्हें भी बड़ा आनन्द हुआ। वे भी उल्लासमें भर कर प्रेमपूर्वक श्रीनाम-संकीर्तन करने लगे—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥
(श्री चै. च. अ. १४।१४१)

इधर शुक्ल पक्षके चन्द्रमाकी भाँति शचीदेवीके गर्भकी कान्ति क्रमशः बढ़ने लगी। शचीदेवी मन-ही-मन अपने गृहदेवता श्रीविष्णुसे, देवताओं एवं ब्राह्मणोंसे प्रार्थना करती कि उनके गर्भकी संतान जीवित रहे। उन्हें अनेकानेक शुभ शकुन होने लगे।

उन्हीं दिनों एक दिन प्रातःकालमें श्रीअद्वैताचार्यजी, श्रीहरिदास आदि भक्तोंके साथ गङ्गाके घाट पर बैठकर हरिकथा कह रहे थे। उसी समय श्रीशचीदेवी भी अन्यान्य ब्राह्मणियोंके साथ गङ्गा-स्नान करनेके लिये उसी घाट पर उपस्थित हुईं। उन्होंने श्रीअद्वैताचार्य एवं भक्तमण्डलीका दर्शन कर श्रद्धापूर्वक उनको प्रणाम किया तथा उनके चरणोंकी धूलिको अपने मस्तक पर धारण किया। इधर श्रीअद्वैताचार्यने जब शचीदेवीकी दिव्यकान्तिका दर्शन किया तो वे आश्चर्यचकित हो गये। वे मन-ही-मन सोचने लगे—'मैंने शचीदेवीको अनेकों बार देखा है, परन्तु आज तो इनके अङ्गोंकी कान्ति निराली ही दिखलायी पड़ रही है। साधारणतः मनुष्यमें ऐसी कान्ति असंभव है। अवश्य ही शचीदेवीके गर्भमें कोई महापुरुष निवास कर रहे हैं। इतना सोचते-सोचते उन्होंने अनुभव किया कि जिनकी वे इतने दिनोंसे आराधना करते रहे हैं, वे श्रीहरि ही शचीदेवीके गर्भमें हैं। ऐसा जानकर वे शचीदेवीको प्रेमपूर्वक आशिर्वाद देकर अपने घर लौट आये।

धीरे-धीरे शचीदेवीका प्रसवकाल समीप आने लगा। ब्रह्मा, शिव, इन्द्र आदि देवगण रातमें मिश्रके घर आते और शचीदेवीकी परिक्रमा करके उनके गर्भकी स्तुति करते। एक रात शचीदेवी देवताओंको स्तव करते देखकर बड़ी भयभीत हो गयी उन्होंने उसी समय अपने पतिदेवको जगाते हुए कहा आर्य! उठिये-उठिये, यह क्या देख रही हूँ।' श्रीमिश्रजी 'क्या' 'क्या' कहते हुए उठे; परन्तु तबतक देवता लोग अदृश्य हो गये थे। मिश्रने पूछा—'प्रिये! तुमने मुझे आर्त्तस्वरसे क्यों जगाया? शचीदेवीने उत्तर दिया—'मैं सोयी हुई थी कि मेरे कानोंमें धीरे-धीरे कुछ शब्द सुनाये पड़े। मेरी आँखें खुल गयीं। मैंने देखा कि घरमें दिव्यरूपधारी अनेक मूर्तियाँ मेरे गर्भकी ओर देखती हुई स्तुतिके समान कुछ बोल रही हैं। देव! कहीं वे मेरे गर्भस्थ शिशुका अनिष्ट न करें।' मिश्रने सान्त्वना देते हुए कहा—'प्रिये! डरो मत। श्रीहरि रक्षा करेंगे। यह सब देवताओंकी लीला है। देखो। ये पड़े हुए पुष्प स्वर्गके हैं; मर्त्यलोकमें ऐसे पुष्प नहीं होते। मुझे ऐसा दिव्य अनुभव हुआ है कि तुम्हारे गर्भसे एक महापुरुष आविर्भूत होंगे और उनसे हमारे वंशोंका उद्धार होगा।

कुछ दिनोंके बाद ही श्रीहरिके आविर्भावका समय आ पहुँचा। १४०७ शकाब्दके वसन्त ऋतुमें फाल्गुनी पूर्णिमाके दिन संध्याकालमें सब-प्रकारके शुभ लग्नोंका संयोग हुआ। उस समय चन्द्रग्रहण लगा हुआ था। सर्वत्र ही 'हरि' 'हरि' की ध्वनि हो रही थी। उसी समय भगवान गौरचन्द्र श्रीशचीदेवीके गर्भ सिन्धुसे प्रकट हुए। भगवान श्रीगौरसुन्दर श्रीनामसंकीर्तनके बीच अवतीर्ण होकर रोनेके बहाने 'ॐ ॐ' (आदि ब्रह्मनाद) का उच्चारण करने लगे। यही ध्वनि तो कलानिधि श्रीकृष्णका आदि मधुर स्वर है। उसके सामने कोयलकी कूक भी फीकी लगती है। मधुर स्वरके आधार भूत उस स्वरके श्रवणसे श्रीशचीकी सखियाँ कुछ समयके लिये स्तब्ध रह गईं। थोड़ी देर बाद आनन्दसागरमें डूबकर उन्होंने सूतिका गृहमें प्रवेश

किया। दिव्य शिशुका दर्शन कर वे सर्वथा बेसुध हो गईं। सुध आने पर वे कहने लगीं—"क्या ही चमत्कार है! क्या आकाशसे बिजली तो नहीं उतर आई? अथवा कहींसे कोई हिमखण्ड तो नहीं आ गिरा? सखि! मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व-ब्रह्माण्ड का निखिल सौन्दर्य मूर्ति धारण कर यहाँ विराजमान हो रहा है। शचि! तुम बड़ी सौभाग्यवती हो। भगवान् तुम्हारा कल्याण करें। तुम्हारा यह लाल चिरजीवी हो।" ऐसा कहते-कहते वे अत्यन्त पुलकित हो रही थी, उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुकी धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं। स्तनोंसे अपने-आप दूधकी धाराएँ निकल रही थीं। वे सब-की-सब हुलु-हुलु ध्वनि कर रही थीं।

उसी समय स्वर्गसे इन्द्र और उपेन्द्रकी माता श्रीअदिति देवी, कैलाशपुरीसे श्रीपार्वतीदेवी, इन्द्रकी पत्नी शचीदेवी, ब्रह्मर्षि वशिष्ठजीकी पत्नी श्रीअरुन्धतीदेवी आदि अनेकों देवियाँ भी प्रभुके दर्शनोंके लिए वहाँ पधारीं। शचीदेवी, मालिनी देवी तथा शची की माताजीने इन देवीयोंको देखा तो उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि वे सब उनकी पुरानी सखियाँ हैं। देव माता अदिति आदि देवियोंने जब शिशुका दर्शन किया तो उनके हृदयमें वात्सल्य भाव उमड़ आया। उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुकी धाराएँ बहने लगीं। देव माताने बड़े ही प्रेमसे शिशु एवं शची माताके मस्तक पर धान्य, दूर्वा, पुष्प आदि डालकर आशिर्वाद दिया। अरुन्धती और पार्वती आदि देवियाँ मन-ही-मन कहने लगीं कि यह तो स्वयं गोकुल नाथ श्रीकृष्णचन्द्र ही हैं। इनके केवल वर्णमें ही भेद है। इसके अतिरिक्त सब कुछ समान ही है—ऐसा कह कर वे मधुर स्वरसे भगवन्नामोंका कीर्तन कर नृत्य करने लगीं। जगन्नाथ मिश्रके तो आनन्दका कोई ठिकान ही नहीं था। उन्होंने ब्राह्मणों, अतिथिओं तथा अन्यान्य लोगोंको विविध प्रकारके दान दिये। इस प्रकार गोकुलानन्द श्रीकृष्णचन्द्रका श्रीगौरांग रूपसे धराधाम पर आविर्भाव हुआ।

प्रेमसे बोलो शचीनन्दन श्रीगौराङ्ग महाप्रभुकी जय

—श्रीहरिकृपादास ब्रह्मचारी 'भक्तिशास्त्री,

शरणागति

मदनगुपाल। सरण तेरी आयो।
चरणकमल की सेवा दीजे चेरो करि राखो घर जायो॥
धनि-धनि मात, पिता, सुत, बन्धु, धनि जननी जिन गोद खिलायो।
धनि-धनि चरन चलत तीरथको धनि गुरु जिन हरिनाम सुनायो॥
जे नर बिमुख भये गोबिन्द सो जनम अनेक महादुख पायो।
'श्रीभट' के प्रभु दियो अभयपद जम-डरप्यो जब दास कहायो॥

उपनिषद्-वाणी

(छान्दोग्य-६)

एक समय चक्षु, कर्ण, नासिका मन और प्राण आदिमें परस्पर इस बात पर वाद-विवाद छिड़ गया कि उनमें सर्वश्रेष्ठ कौन है ? चक्षु-इन्द्रियने कहा—'मैं श्रेष्ठ हूँ', कर्णेन्द्रिने कहा—'मैं श्रेष्ठ हूँ।' इसी प्रकार नासिका, वाक् और प्राण—सभी अपने-आपको बड़ा होनेका दावी कर रहे थे। बात काफी अधिक बढ़ गयी। कोई भी अपनी दावी छोड़नेके लिये प्रस्तुत नहीं था। अन्तमें वे सभी प्रजापतिके पास पहुँचे और बोले—'भगवन् ! हममें कौन श्रेष्ठ है--इसका निर्णय-कर दें।' प्रजापतिने सोचविचार कर उत्तर दिया—'देखो, तुममेंसे जिसके उत्क्रमण करनेपर (निकलनेसे) शरीर अत्यन्त पापिष्ठ-सा दिखायी देने लगे, वही तुममें श्रेष्ठ है।'

प्रजापतिकी बात सुनकर वाक् इन्द्रिय अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करनेके लिये सबसे पहले कुछ दिनोंके लिये शरीरसे निकल पड़े। वे एक वर्ष तक शरीरसे बाहर रहे। एक वर्षके पश्चात् फिर लौटकर दूसरी इन्द्रियोंसे पूछा—'मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके ?' उन्होंने उत्तर दिया—'जिस प्रकार गूँगे लोग बिना बोले नेत्रसे देखते, कानसे सुनते मनसे चिन्तन करते तथा प्राणसे प्रणन क्रिया करते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जीवित रहे।' ऐसा सुनकर वाक-इन्द्रियने अपनी श्रेष्ठताका अभिमान छोड़-कर शरीरमें प्रवेश किया।

फिर चक्षुने अत्क्रमण किया। उसने भी एक वर्षतक प्रवास करनेके पश्चात् फिर लौटकर पूछा—'मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके ?' उन्होंने उत्तर दिया—'जिस प्रकार अन्धेलोग बिना देखे प्राणसे प्रणन करते, वाणीसे बोलते, कानोंसे सुनते और मनसे चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जीवित रहे।' ऐसा सुनकर चक्षुने भी शरीर में प्रवेश किया।

तदनन्तर श्रोत्र-इन्द्रियने उत्क्रमण किया। उन्होंने भी एक वर्ष तक प्रवास करनेके पश्चात् फिर लौटकर पूछा—'तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके ?' उन्होंने कहा—'जिस प्रकार बहरे मनुष्य बिना सुने भी प्राण से प्रणन करते, वाणीसे बोलते नेत्रसे देखते और मनसे चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जीवित रहे।' यह सुनकर श्रोत्र-इन्द्रियने भी शरीरमें प्रवेश किया।

तत्पश्चात् मनने उत्क्रमण किया। उन्होंने भी एक वर्ष प्रवास करके फिर लौटकर कहा—'मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके ?' उन्होंने उत्तर दिया—'जिस प्रकार बच्चे, जिनका मन विकसित नहीं होता, प्राण से प्रणन-क्रिया करते, वाणीसे बोलते और कानसे सुनते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जीवित रहे।' यह सुन कर मनने भी अपनी श्रेष्ठता का अभिमान त्याग कर शरीरमें प्रवेश किया।

उसके पश्चात् प्राणने उत्क्रमणकी इच्छा की। उसने, जिस प्रकार अच्छा घोड़ा अपने पैर बाँधनेके कीलोंको उखाड़ डालता है, उसी प्रकार अन्य प्राणों को भी उखाड़ डाला। साथ ही सारी इन्द्रियाँ व्या-कुल हो उठीं। तब उन सबने प्राणके सामने जाकर कहा—'महोदय ! आप ही हममें सबसे श्रेष्ठ हैं, आप ही सबके स्वामी हैं। आप शरीरसे उत्क्रमण न करें।

तदनन्तर प्राणने पूछा—मेरा अन्न क्या होगा ? तब वागादि इन्द्रियोंने कहा--कुत्तों और पंछियोंसे लेकर सब प्राणियोंका जो कुछ अन्न है, वह सब

तुम्हारा अन्न है । क्योंकि तुम्हारे अधिष्ठानसे ही समस्त प्राणियोंकी भोजन आदि क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं। अतएव सब अन्न प्राणके ही अन्न हैं अर्थात् भोज्य हैं। प्राणने फिर पूछा--मेरा वस्त्र क्या होगा ? तब दूसरे इन्द्रियोंने उत्तर दिया—जल ही तुम्हारा वस्त्र होगा । भोजन करनेवाला व्यक्ति भोजनसे पूर्व और पश्चात् जल पीता है; अतएव जल ही भोजनका आच्छादन स्वरूप है ।

एक समय आरुणिके पुत्र श्वेतकेतु पंचालदेशके लोगोंकी सभामें उपस्थित हुआ । उसे देख कर जीवल के पुत्र प्रवाहणने पूछा--'कुमार ! क्या तुम बतला सकते हो कि इस लोकसे जाने पर प्रजा कहाँ जाती है ? और फिर वह इस लोकमें कैसे आती है ?' देवयान और पितृयानका वियोग स्थान कहाँ है ? यह पितृलोक क्यों नहीं भरता है ? पाँचवीं आहुति द्वारा हवन करने पर जीव 'पुरुष'-संज्ञाको कैसे प्राप्त होता है ? श्वेतकेतु इन प्रश्नोंका उत्तर देनेमें असमर्थ होकर अपने पिताके पास लौट कर उनका उत्तर पूछा। परन्तु उसके पिता भी उन प्रश्नोंका उत्तर देनेमें असमर्थ रहे ।

तदनन्तर प्रवाहण-ऋषिने राजा जैवलिकी सभा में उपस्थित होकर उनसे उक्त प्रश्नोंका उत्तर पूछा । राजाने उन प्रश्नोंका जो उत्तर दिया उसका तात्पर्य इस प्रकार है--अग्निमें आहुति प्रदान करनेकी भाँति द्युलोक, पर्जन्य (मेघ), पृथिवी, पुरुष और स्त्री—इन पाँच आहुतियों द्वारा पुरुषकी उत्पत्ति होती है । देहरूप पुरीमें प्रवेश करनेके कारण जीवकी 'पुरुष'-संज्ञा होती है । जीव अपने कर्मोंका फल भोगने के लिये आकाश, मेघ, पृथिवी, पुरुष और स्त्री—इन पाँचोंमें प्रवेश कर इस लोकमें कर्म-भोगोपयोगी शरीर को प्राप्त होता है । इसका तात्पर्य यह है कि यमपुरीमें जीवके कर्मोंका विचार होनेके पश्चात् यमराजकी आज्ञानुसार अपने कर्मोंका फल भोगने के लिए जीव आकाशमें प्रवेश करता है। आकाशसे पुनः बादलों में पहुँचता है । बादलोंसे वर्षा होने पर जलधाराके साथ वह पृथ्वीमें प्रवेश करके अन्नोंमें प्रवेश करता है । पुनः अन्नके साथ भोजन द्वारा पुरुषके शरीरमें प्रवेश करता है । वहाँसे वीर्यके रूपमें स्त्रीके गर्भमें प्रवेश करता है और वहाँसे यथा समय पाँचभौतिक शरीर धारण करता है । इसीका नाम पञ्चाग्नि विद्या है ।

जो लोग श्रद्धा और तपकी उपासना करते हैं अर्थात् श्रद्धालु होकर संसारका त्याग करके वनमें जाकर तप करते हैं, वे काल उपस्थित होने पर देह त्याग कर पहले अर्चिच-अभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं, फिर क्रमशः दिवसाभिमानी देवता, शुक्ल-पक्षाभिमानी देवता, उत्तरायणाभिमानी देवता, संवत्सर, आदित्य, चन्द्रमा और विद्युतको प्राप्त होते हैं । विद्युत लोकमें एक अमानव आकर उक्त जीवको ब्रह्म के निकट ले जाता है । गीताके आठवें अध्यायके—"अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लषण्मासा उत्तरायणम्"—श्लोकका भी यही तात्पर्य है । इस मार्गका नाम देवयान है ।

और जो लोग संसारमें रह कर यज्ञ तथा दान करने, तालाब और कुँवा खुदवानेको ही धर्म मानकर उन्हीं कार्योंमें सर्वदा तत्पर रहते हैं, वे प्राण त्यागके पश्चात् पहले धूम और फिर क्रमशः रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायण, पितृलोक, आकाश, और चन्द्रमाको प्राप्त होते हैं । चन्द्रमाका नाम ही सोमराजा है । वहाँ कुछ समय वास करके कर्मोंका क्षय होने पर इसी मार्गसे वे फिर पृथ्वी पर लौट कर जन्म ग्रहण करते हैं । पहले आकाशमें प्रवेश करते हैं; फिर आकाश से वायुमें, वायुसे धूममें, धूमसे बादलमें, बादलोंसे वर्षाके साथ पृथ्वी पर पहुँच कर अन्नके भीतर प्रवेश करते हैं । फिर अन्नके साथ भोजन द्वारा पुरुषके शरीरमें प्रवेश करते हैं । वहाँसे पुरुषके वीर्यके साथ स्त्रीके गर्भमें प्रवेश कर पुनः पाँचभौतिक शरीरके साथ जन्म ग्रहण करते हैं । इसीका नाम धूम्रयान

है। यह मार्ग अत्यन्त क्लेशदायक होता है। ये जन्म ग्रहण करनेवाले जीव यदि उत्तम आचरणोंका पालन करते हैं, तब वे ब्राह्मण आदि उत्तम योनिमें जन्म लेते हैं, अन्यथा दुराचारी होने पर कुक्कुर आदि नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं। धुम्रयानमें भ्रमण करनेवाले जीवोंकी उन्नतिकी आशा कम होती है। वे बार-बार नाना-प्रकारकी योनियोंमें भ्रमण करते रहते हैं। इस संसार-चक्रमें भ्रमण करनेवाला जीव यदि साधु-संगमें अपना स्वरूप जानकर भगवानके चरणों में शरणागत होता है, तभी उसका वास्तविक कल्याण होता है।

—त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

अवधूत-गीता

[गतांक पृष्ठ १६६ से आगे]

राजन्! यह शरीर भी मेरा गुरु है। इससे मैंने जो कुछ सीखा है, तुम्हें बतला रहा हूँ। यह शरीर मुझे विवेक और वैराग्यकी शिक्षा देता है। इसके साथ सर्वदा जीना और मरना लगा हुआ है। जन्मसे मृत्यु तक दुःख इसका कभी पीछा नहीं छोड़ता। मरने पर सियार-कुत्ते खा जाते हैं। इससे वैराग्यकी शिक्षा मिलती है। इतना होने पर भी मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। इस शरीरसे ही तत्त्व-विचार करनेमें सहायता मिलती है। तथापि मैं कभी भी इसे अपना नहीं समझता और इससे असङ्ग होकर विचरण करता हूँ।

जीव जिस शरीरका प्रिय करनेके लिये ही अनेकों प्रकारकी कामनाएँ और कर्म करता है तथा स्त्री-पुत्र, धन-दौलत, हाथी-घोड़े, नौकर-चाकर, घर-द्वार और भाई-बन्धुओंका विस्तार करते हुए उनके पालन-पोषण-में ही सदा लगा रहता है; बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ सह कर धन-संचय करता है, वही शरीर आयु पूरी होने पर स्वयं तो नष्ट होता ही है, वृक्षके समान दूसरे शरीरके लिये बीज बोकर उसके लिये भी दुःखकी व्यवस्था कर जाता है। जैसे बहुतसी-सौतें अपने एक पतिको अपनी-अपनी ओर खींचती हैं, वैसे ही जीव-को रसना (जीभ) एक ओर—स्वादिष्ट पदार्थोंकी ओर खींचती है, जननेन्द्रिय—स्त्री संभोगकी ओर ले जाना चाहती है, त्वचा—कोमल स्पर्श, पेट—सुस्वादु भोजन और कान—मधुर शब्दकी ओर खींचते हैं। नाक कहीं सुन्दर गन्धकी ओर खींचती है, तो चंचल नेत्र सुन्दर रूपोंकी ओर। इस प्रकार कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ दोनों ही इसे सताती रहती हैं।

यों तो भगवान्‌ने अपनी माया शक्ति द्वारा वृक्ष, साँप, पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि अनेकों प्रकारके शरीरोंकी रचना किये हैं, परन्तु उनसे उन्हें सन्तोष न होने पर अन्तमें उन्होंने मनुष्य शरीरकी सृष्टि की। इसीसे उनको सन्तोष प्राप्त हुआ। यद्यपि मनुष्य शरीर है तो अनित्य ही—कब इसकी मृत्यु हो जाय कुछ ठीक नहीं, परन्तु इससे परम पुरुषार्थकी प्राप्ति हो सकती है। इसलिये अनेक जन्मोंके बाद यह अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य-शरीर पाकर बुद्धिमान पुरुषको चाहिये कि शीघ्र-से-शीघ्र मृत्युसे पहले ही मोक्ष-प्राप्तिका प्रयत्न कर ले। इस जीवनका मुख्य उद्देश्य मोक्ष ही है। विषय-भोग तो सभी योनियोंमें प्राप्त हो सकते हैं। इसलिये उनके संग्रहमें यह अमूल्य जीवन नहीं खोना चाहिये।

राजन्! यही सब सोच-विचार करके ही मुझे जगत्‌से वैराग्य हो गया। अनेकों गुरुओंसे ज्ञान प्राप्त कर मेरे हृदयमें ज्ञान-विज्ञानका आलोक फैला रहता है। अब न तो कहीं मेरी आसक्ति है और न कहीं अहङ्कार ही। इस प्रकार मैं स्वच्छन्द रूपसे इस पृथ्वी पर विचरण करता हूँ।

इस प्रकार गम्भीर-बुद्धि अवधूत दत्तात्रेय राजा यदुको उपदेश करके बड़ी प्रसन्नतासे इच्छानुसार पधार गये।

श्रीचैतन्य-शिक्षामृत

[तृतीय-धारा]

कृष्ण--कृष्णशक्ति और रस

कृष्णका स्वरूप

सच्चिदानन्दविग्रहस्वरूप कृष्ण ही परम ईश्वर हैं। वे अनादि हैं अर्थात् वे उनका आदि या कारण कोई दूसरा नहीं है। परन्तु वे सबके आदि हैं—सब कारणोंके मूल कारण हैं। शास्त्रमें उनका नाम गोविन्द कहा गया है। श्रीचैतन्यचरितामृतकी सनातन-शिक्षामें श्रीकृष्ण-तत्त्वके सम्बन्धमें ऐसा वर्णन मिलता है—

कृष्णेर स्वरूप-विचार सुन सनातन।
अद्वयज्ञान-तत्त्व व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन॥
सर्वआदि, सर्व-अंशी किशोरशेखर।
चिदानन्द देह सर्वाश्रय, सर्वेश्वर॥
स्वयं-भगवान् कृष्ण, गोविन्द पर नाम।
सर्वैश्वर्यपूर्ण जार गोलोक-नित्यधाम॥*

अर्थात् व्रजमें विलास करनेवाले व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण अद्वयज्ञान परतत्त्व हैं। वे सबके आदि सबके अंशी किशोरशेखर हैं। उनका शरीर सच्चिदानन्द है। वे सबके आश्रय सर्वेश्वर एवं स्वयं भगवान् हैं। शास्त्रमें उनका नाम गोविन्द बतलाया गया है। सम्पूर्ण ऐश्वर्योंसे पूर्ण गोलोक ही उनका नित्यधाम है।

तीन प्रकारके दर्शन

जैव जगतमें ही ईश्वरस्वरूपकी अनुभूति लक्षित होती है। परमेश्वरने मानवको जो अनुभव-वृत्ति प्रदान की है, उसके द्वारा ही जीव ईश्वरके स्वरूपका अनुभव कर सकते हैं। मानवकी अनुभव-वृत्ति तीन प्रकारकी हैं—स्थूलदेहगत ज्ञानेन्द्रिय, सूक्ष्मदेह या मनकी बोधशक्ति और जीवात्माके स्वरूपगत चिद्दर्शन-वृत्ति। चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वचा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनके द्वारा जो बाह्य अनुभूति होती है, वह केवल जड़ज्ञान है। मनोगति जड़ज्ञान से प्रतिफलित चिन्ता, स्मरण, ध्यान, धारणा आदि द्वारा केवल जड़ज्ञान और चिदाभासका ही दर्शन होता है। इसलिये ये दोनों प्रकारकी ज्ञान-वृत्तियाँ प्राकृत हैं। परन्तु ईश्वरस्वरूप सम्पूर्ण चिदानन्द तत्त्व है। अतएव पूर्वोक्त दोनों प्राकृत वृत्तियों द्वारा ईश्वर स्वरूपकी अनुभूति प्राप्त करना सर्वथा असंभव है। इसीलिए आत्मवृत्ति§ का आश्रय किये बिना ईश्वर स्वरूपका दर्शन नहीं होता। जो लोग जड़-इन्द्रियोंकी सहायतासे ईश्वर-स्वरूपका दर्शन करनेकी चेष्टा करते हैं, वे आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा आदि योगाभ्यास द्वारा ('व्यतिरेक' चिन्ताद्वारा) ईश्वरको

---

* गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य देवीमहेश हरिधामसु तेषु तेषु।
ते ते प्रभावनिचया विहिताश्च येन गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥
—ब्रह्मसंहिता

§ यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसंप्रयुक्तम्॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।२५)

सृष्ट जगतकी आत्मा समझ कर परमात्मा दर्शन रूप एक समाधि-अवस्थाकी कल्पना करते हैं। परन्तु इस क्रियासे भी सम्पूर्णरूपसे अप्राकृत दृष्टि प्राप्त नहीं होती है। इसके द्वारा अधिकसे अधिक प्राकृतज्ञानका निरोध किया जा सकता है तथा एक प्रकारका खण्ड-ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। जो लोग योग-पद्धतिसे भी अधिकतर व्यतिरेक चिन्ताद्वारा प्राकृत रूप आदिको तिरस्कारपूर्वक एक निराकार निर्विकार परमेश्वर स्वरूपकी कल्पना करते हैं, वे ऐसा समझते हैं कि उन्हें ब्रह्मदर्शन हो रहा है। वास्तवमें उनका ब्रह्मदर्शन केवल भानमात्र है अर्थात् उनको ब्रह्मका वास्तविक दर्शन न होने पर भी वे ब्रह्म-ज्योतिका दर्शन करके ऐसा मानते हैं कि उन्हें ब्रह्मका दर्शन हो रहा है।‡ इस विषयमें श्रीचैतन्यमहाप्रभुजी सनातन गोस्वामीको उपदेश कर रहे हैं।

ज्ञान, योग, भक्ति तीन साधनेर वशे।
ब्रह्म, आत्मा, भगवान् विविध प्रकाशे॥
(चै. च. म. २०।१५७)

अन्यत्र भी कहते हैं—

मुख्य-गौण-वृत्ति किंवा अन्वय-व्यतिरेके।
वेदेर प्रतिज्ञा केवल कहये कृष्णके॥
(चै. च. म. २०।१४६)

तात्पर्य यह है कि जब जीव अपनेको द्रष्टा मान कर ईश्वरका दर्शन करना चाहता है, उस समय वह जिस अधिकारमें स्थित होता है, उस अधिकारके अनुरूप दिखायी पड़नेवाले ईश्वर-स्वरूपका ही दर्शन करता है। कर्मयोगमें परमात्मा, ज्ञानयोगमें ब्रह्म एवं भक्तियोगमें भगवान्का दर्शन होता है। तत्त्वविद् पण्डितजन अद्वयज्ञान स्वरूप-तत्त्वको ही तत्त्व कहते† हैं। उन्हीं अद्वय चिद्-विग्रहको ही उपरोक्त तीन श्रेणीके साधक अपने-अपने दृष्टिकोणसे पृथक्-पृथक् रूपमें दर्शन करते हैं। वास्तवमें ब्रह्म, परमात्मा और भगवान एक ही तत्त्व है। जो जिस रूपमें और जितने अंशोंमें उसे देख पाते हैं, वे उसी दर्शनको ही सर्वश्रेष्ठ दर्शन मानते हैं।

उपर्युक्त भक्तियोगमें दिखलायी पड़नेवाले भगवान् ही कृष्ण हैं। जो लोग कृष्णको साधारण मनुष्य और साधारण मनुष्य जैसा विलासवान मान कर उनकी अवज्ञा करते हैं, उनका तत्त्व-ज्ञान अत्यन्त अल्प है—ऐसा समझना चाहिये। श्रीकृष्ण ही स्वयं-भगवान् हैं। श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रोंमें इसके भूरि-भूरि प्रमाण हैं—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे-युगे॥
(श्रीमद्भा० १।३।२८)

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥
(ब्रह्मसंहिता ५।१)

श्रीचैतन्यमहाप्रभुने श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रोंका तात्पर्य अवलम्बन कर श्रीसनातन गोस्वामीको यह शिक्षा दी है कि भक्तियोग द्वारा जो भगवत्दर्शन होता है—वही पूर्णरूप है। भगवान्के तीन प्रकारके रूप हैं—स्वयं रूप, तदेकात्मरूप और आवेश, इनमेंसे व्रज-विहारी नन्दनन्दन श्रीकृष्णरूप गोपमूर्त्ति ही—

‡ वाचं यच्छ मनोयच्छ प्राणान् यच्छेन्द्रियाणि च।
आत्मनमात्मना यच्छ न भूयः कल्पसेऽध्वने॥
यो वै वाङ्मनसी सम्यग् संयच्छन् धिया यतिः।
तस्य व्रतं तपो दानं स्रवत्यामघटाम्बुवत्॥
तस्मान्मनो वचः प्राणान् नियच्छेन्मत्परायणः।
मद्भक्तियुक्तया बुद्ध्या ततः परिसमाप्यते॥
(श्रीमद्भा० ११।१६।४२-४४)

† वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
(भा० १।२।११)

स्वयं-रूप है। इन स्वयं-भगवान् श्रीकृष्णके छः प्रकार के अवतार होते हैं—(१) पुरुषावतार, (२) लीलावतार, (३) गुणावतार, (४) मन्वन्तरावतार, (५) युगावतार और (६) शक्त्यावेशावतार। (१) पुरुषावतार तीन होते हैं--कारणोदकशायी—प्रथम पुरुषावतार, गर्भोदकशायी—द्वितीय पुरुषावतार और क्षीरोदकशायी—तृतीय पुरुषावतार। (२) लीलावतार—अनेक हैं, जिनमें मत्स्य, कुर्म, वराह, नृसिंह, वामन, राम आदि प्रधान हैं। (३) गुणावतार तीन हैं—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। (४) मन्वन्तरावतार-एक-एक मन्वन्तरमें एक-एक मन्वन्तरावतार होता है। ये असंख्य हैं। इस कल्पके चौदह मन्वन्तरावतार ये हैं—यज्ञ, विभु, सत्यसेन, हरि, वैकुण्ठ, अजित, वामन, सार्वभौम, ऋषभ, विष्वक्सेन, धर्मसेतु, सुधामा, योगेश्वर और बृहद्भानु। (५) युगावतार चार हैं—सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुगमें भगवान् कृष्ण क्रमशः शुक्ल, रक्त, कृष्ण और पीत वर्ण धारण करके अवतीर्ण होते हैं। (६) शक्त्यावेशावतार-ये असंख्य हैं—जैसे सनकादि, नारद, पृथु, परशुराम इत्यादि।

इस प्रकार कृष्ण ही इन समस्त प्रकारके असंख्य अवतारोंके मूल हैं। सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण वीर्य, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण वैराग्य ये छः भग हैं। इनसे युक्त पुरुष ही भगवान् हैं। इस दृष्टिसे यह देखा जाता है कि कृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं; क्योंकि उनमें स्वाभाविक रूपसे ही सम्पूर्णरूपसे भगवत्ताका चरम प्रकाश है। कृष्णसे न कोई श्रेष्ठ है, न कोई उनके समान ही है। कृष्ण स्वयंरूप अर्थात् गोपमूर्त्तिमें अपने नित्यधाम गोलोक में नित्य विहार करते हैं। तदेकात्म पुरुषगण कृष्ण की इच्छासे कार्य करते रहते हैं। महाविष्णु ही कृष्ण के प्रथम पुरुषावतार हैं। वे कारण-समुद्रमें शयन करते हैं। उनके दो अंश हैं—गर्भोदकशायी पुरुषावतार और क्षीरोदकशायी पुरुषावतार। राम और नृसिंह आदि अवतारसमूह पुरुषावतारके अंशकला मात्र हैं। परन्तु कृष्ण—स्वयं-भगवान् हैं, पुरुषावतारोंके भी मूल हैं। अपनी अचिन्त्य शक्तिके प्रभाव से भगवान् कृष्ण सबसे ऊपर रह करके भी युगपत् व्रजेन्द्रनन्दनके रूपमें अवतीर्ण होते हैं। उपनिषदोंमें जिसे 'ब्रह्म' कहा गया है वे ब्रह्म—कृष्णकी अङ्गकान्ति हैं।* योगशास्त्रों एवं वेदोंमें जिस परमात्माका वर्णन है, वे परमात्मा—कृष्णके एक अंश हैं।† इन दोनों मान्यताओंके के पीछे अनेकों शास्त्र-प्रमाण हैं और तर्कशास्त्र आदिकी युक्तियोंके सहारे इसे समझा नहीं सकता है। जिस प्रकार सूर्य-स्वरूपसे सम्पूर्ण सौर-जगत्में आलोक व्याप्त है, उसी प्रकार चिदानन्द-स्वरूप अप्राकृत सर्व विक्रमयुक्त कृष्णरूप सूर्यकी वह अङ्ग-ज्योति जो सर्वत्र व्याप्त है, वह व्यतिरेकचिन्ताशील पण्डितोंके चित्तमें निराकार-निर्विशेष ब्रह्मके रूपमें प्रतिभात होती है। जगतकी सृष्टि करके उसमें प्रविष्ट हुए कृष्णके अंशको योगी लोग परमात्माके रूपमें दर्शन करते हैं। निराकार एवं निर्विकार-धर्मसमूह—प्राकृत सत्त्वगुणके विकार हैं। तथाकथित पण्डित लोग ऐसी ही उपासनामें मोहित हैं। वे खण्डज्ञानी पण्डित लोग भगवान्के सच्चिदानन्द विग्रहका अनादर कर निराकार और निर्विशेष भावका आश्रय करनेके कारण प्रेमधनसे सदाके लिये वंचित रह जाते हैं। ये लोग ऐसा सोचते हैं कि भगवान्का श्रीविग्रह माननेसे उनमें नरपूजा या जड़-पूजाका दोष स्पर्श कर सकता है।

---

*यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-कोटिष्वशेषवसुधादिविभूति भिन्नम्।
तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥ (ब्र० सं० ५ ४६)

†कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय योऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥ (श्रीमद्भा० १०।१४।५५)

कृष्ण-दर्शनकी योग्यता

बुरे संस्कारोंसे ही ऐसे पवित्र जैव-धर्ममें विप्लव हुआ करता है । जिनके हृदयमें कृष्णका माहात्म्य एवं कृष्णका सौन्दर्य उदित हो जाता है, वे निराकार आदि व्यतिरेक बुद्धिसे मुक्त होकर अप्राकृत राज्यका दर्शन करते हैं । सौभाग्यवान जीवको ही ऐसा दर्शन प्राप्त होता है । दुर्भाग्यसे जो लोग साधारण-भौतिक-विज्ञानके चाकचिक्यसे ही मोहित हैं, वे अप्राकृत राज्यकी अनुभूति प्राप्त नहीं कर सकते । श्रीकृष्ण अनादि अनन्त अप्राकृत कालमें सर्वोच्च गोलोकपति होकर भी अपनी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे भौमजगत् में अपनी स्वतन्त्र इच्छासे गोलोकमें स्थित व्रजके साथ स्वयं अवतीर्ण होकर भी सदा-सर्वदा शुद्ध सविशेष धर्ममें विचरण करते हैं अर्थात् इस भौतिक जगत्में उनके ऊपर प्राकृत काल आदिका कोई प्रभाव नहीं पड़ता । इस कृष्ण लीलाको आत्माकी विशुद्ध समाधिकी अवस्थामें ही देखा जा सकता है । चर्म चक्षुओंसे भगवान्का सच्चिदानन्दरूप और उनकी अप्राकृत लीलाका दर्शन नहीं किया जा सकता है । कभी-कभी कृष्ण अपनी अचिन्त्य शक्तिके प्रभाव से चर्म चक्षुओंके सामने भी अपनेको प्रकट करते हैं । परन्तु दुष्कृतिसम्पन्न मूढ़ जीव उनको पहचान नहीं पाते । कृष्णलीला नित्य है । वह प्राकृत देश और कालसे अपरिच्छिन्न होती है । उसे केवल आत्मगत भक्तिचक्षुसे ही देखा जा सकता है तथा भक्तिभावित मनसे ही उसका ध्यान किया जा सकता है‡ । जब तक प्राकृत ज्ञान-विज्ञानका अहंकार भरपूर रहता है, तबतक परमतत्त्वका अनुशीलन करने पर भी वह तत्त्व उससे बहुत ही दूर रहता है । परन्तु जो अपने को तृणसे भी दीन-हीन समझ कर जब व्याकुल हृदयसे श्रीकृष्णको पुकारता है, वही सौभाग्यवान व्यक्ति कृष्णका साक्षात्कार कर लेता है तथा उनकी कृपासे उनका असीम प्रेमानन्द भोग करता है । सौभाग्यवश श्रद्धाके उदय हो जाने पर प्राकृत अहङ्कार से छुटकारा मिल जाता है तथा नामापराधी बननेका डर नहीं रहता है । कृष्ण-भजनमें जाति, वर्ण, प्राकृत विद्या, रूप, बल, भौतिक विज्ञानका बल, उच्चपद, धन और राज्य—ये कुछ भी सहायता नहीं करते । बल्कि अधिकांशरूपमें जातिका अभिमान, रूप और धन आदिका अहङ्कार भक्तिके लिये प्रधान बाधक सिद्ध होता है* ।

प्राकृत विज्ञानका सबसे बड़ा दोष यह है कि वह अपने अधिकारसे बाहरके भी सब तत्त्वोंको जानना चाहता है । अप्राकृत-तत्त्वमें उसका अधिकार नहीं है, तथापि वह निर्लज्जकी भाँति उस दिशामें भी अपनी टाँग अड़ाता है तथा उसके सम्बन्धमें अतिशय क्षुद्र एवं भ्रमपूर्ण सिद्धान्त अपनाता है और अन्तमें स्वयं भी विकृत होकर अर्थात् अप्राकृत तत्त्व नामक कुछ है ही नहीं—ऐसी धारणा बना कर उस विषयसे सर्वथा अलग हो जाता है । सत्सङ्गके प्रभावसे जीवके हृदयमें स्वाभाविक दैन्यका प्रकाश होता है । दैन्यरूप आधार पर ही कृष्णकी कृपा होती है । इस कृष्ण-कृपा

‡भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले । अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम् ॥
यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम् । परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतञ्चाभिपद्यते ॥
अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे । लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम् ॥
यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परम पुरुषे । भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा ॥

(श्रीमद्भा० १।७।६-७)

*श्रिया विभुत्याभिजनेन विद्यया त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा ।
जातस्मयेनान्धधियः सहेश्वरान् सतोऽवमन्यन्ति हरिप्रियान् खलाः ॥ (श्रीमद्भा० ११।५।६)

से ही अप्राकृत तत्त्वमें अधिकार पैदा होता है। केवल भौतिक विचार या भौतिक ज्ञानके द्वारा अप्राकृत तत्त्वको कदापि जाना नहीं जा सकता है †।

कृष्ण-शक्ति

कृष्णकी अनन्त प्रकारकी शक्तियाँ हैं। उन्होंने अनन्त जगतमें किस शक्तिको कहाँ प्रकाशित रखा है, उसे क्षुद्र जैवज्ञानके द्वारा हम जान नहीं सकते हैं। चित् जगत्में अर्थात् विरजाके उस पार वैकुण्ठ है तथा वैकुण्ठसे ऊपरमें भी गोलोक व्रज विराजमान है। वैकुण्ठमें चतुर्भुज नारायणके रूपमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्रकाशित हुआ है। गोलोकमें—माधुर्य-प्रधान प्रकाशमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य निहित रहता है+। कृष्ण-स्वयं शक्तिमान हैं। उनके स्वरूपकी एक अचिन्त्य महाशक्ति है। शास्त्रोंमें कहीं-कहीं उस शक्तिको 'माया' कहा गया है। "मीयते अनया" इति माया, इस अर्थमें मायाको ही कृष्णका बाह्य परिचय कहा जा सकता है। मायाके बिना कृष्णका परिचय नहीं है। इस मायाको ही तत्त्वविद्‌गण कृष्णकी स्वरूप शक्ति बतलाते हैं तथा उसको परा और अपरा दो भागोंमें विभक्त कर परा शक्तिको चित्‌शक्ति तथा अपरा शक्तिको मायाशक्तिके रूपमें वर्णन करते हैं। वास्तवमें पराशक्ति ही कृष्णकी एकमात्र अचिन्त्य शक्ति है। उसीकी छायाको ही अपराशक्ति कहा गया है। जड़ ब्रह्माण्डकी स्वामिनी ही यह छायारूपी माया है *। जगत् सम्बन्धी जिस मायाशक्तिकी चित् तत्त्वके विषयमें दूषित होनेके कारण निन्दा की जाती है, वह यही छायारूप मायाशक्ति है—स्वरूपशक्तिरूपा माया-शक्ति नहीं। इसीलिये श्रीचैतन्यमहाप्रभुजीने सनातन गोस्वामीको कहा—

"कृष्णेर स्वभाविक तिन शक्ति परिणति।
चिच्छक्ति, जीवशक्ति आर मायाशक्ति॥"
(चै. च. म. २०।१११)

अन्यत्र भी —

"अनन्त शक्तिर मध्ये कृष्णेर तीन शक्ति प्रधान।
इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति नाम॥"
(चै. च. म. २०।२५२)

अन्यत्र सार्वभौम भट्टाचार्यको भी उपदेश दे रहे हैं—

"सच्चिदानन्दमय हय ईश्वरस्वरूप।
तीन अंशे चिच्छक्ति हय तीन रूप॥
आनन्दांशे ह्लादिनी, सदंशे सन्धिनी।
चिदंशे सम्वित् जारे कृष्णज्ञान मानि॥
अन्तरंगा चिच्छक्ति तटस्था जीवशक्ति।
बहिरंगा माया तीने करे प्रेमभक्ति॥"
(चै. च. म. ६।१५८-१६०)

इनका तात्पर्य यह है कि कृष्णकी आत्मशक्ति या स्वरूपशक्ति अथवा पराशक्ति एक है। परन्तु कृष्णकी इच्छासे उस पराशक्तिके तीन प्रकारके विभाग, तीन प्रकारके प्रभाव और तीन प्रकारके अनुभव विकशित हुए हैं§। चित्-शक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्ति—ये तीन विभाग हैं। सन्धिनी, सम्वित् और ह्लादिनी—ये तीन अनुभाव हैं तथा इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति

† तथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥ (श्रीमद्भा० १०।१४।२८)

+ को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन् योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम्॥ (श्रीमद्भा० १०।१४।२१)

* ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथा तमः॥ (श्रीमद्भा० २।९।३३)

§ यस्मिन् विरुद्धगतयोह्यनिशं पतन्ति विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्व्या।
तद्ब्रह्म विश्वभवमेकमनन्तमाद्यमानन्दमात्रमविकारमहं प्रपद्ये॥ (श्रीमद्भा० ४।९।१६)

और ज्ञानशक्ति—ये तीन प्रभाव हैं। इनमेंसे (१) इच्छाशक्तिरूप प्रभावमें चित् शक्ति द्वारा गोलोक, वैकुण्ठ आदि लीलापीठ, कृष्ण, गोविन्द आदि नाम, द्विभुज, चतुर्भुज और षड्भुज आदि विग्रहरूप, गोलोक, वृन्दावन और वैकुण्ठ धामके पार्षदोंके साथ लीला, दया, दाक्षिण्य, और क्षमा आदि गुण विकशित हुए हैं। (२) ज्ञानशक्तिरूप प्रभावमें चित्शक्तिद्वारा वैकुण्ठके सम्पूर्ण ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्य आदिका विकाश हुआ है। कृष्णके अतिरिक्त और किसीमें इच्छाशक्ति नहीं है। ज्ञानशक्तिके अधिष्ठाता वासुदेव-प्रकाश है तथा क्रियाशक्तिके अधिष्ठाता बलदेव-संकर्षण आदि प्रकाश हैं। जीवशक्तिरूप तटस्था शक्तिसे इच्छा, ज्ञान और क्रियाके प्रभावद्वारा नित्य पार्षद, अधिकृत देवतावर्ग तथा मनुष्य, दैत्य, राक्षस आदि उदित हुए हैं। (३) कृष्णके समस्त क्रिया-अनुभाव उनकी क्रियाशक्तिके प्रभावसे ही उदित हैं। चित्शक्तिमें सन्धिनी, सम्वित् और ह्लादिनी—ये विचित्रताएँ हैं इन सबके सम्मिलनसे परम प्रयोजनरूप प्रेमलीलाकी अन्वय-व्यतिरेक भावसिद्धि होती है। कृष्णकी शक्ति असीम, अनन्त और अपार है। चित्शक्तिकी समस्त क्रियाएँ नित्य होती हैं। सनातन शिक्षामें श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

यद्यपि असृज्य नित्य चिच्छक्तिविलास।
तथापि सङ्कर्षण-इच्छाय ताँहार प्रकाश॥
(चै. च. म. २०।२५७)

अर्थात् यद्यपि कृष्णकी चित्शक्तिका विलास नित्य है, तथापि सङ्कर्षणकी इच्छासे उसका प्रकाश होता है।

जड़-प्रकृति

छायाशक्तिको ही जड़ा प्रकृति कहते हैं। इसके सम्बन्धमें चैतन्य चरितामृतमें इस प्रकार वर्णन है—

मायाद्वारे सृजे तिहों ब्रह्माण्डेर गण।
जड़रूपा प्रकृति नहे ब्रह्माण्डेर कारण॥
जड़ हैते सृष्टि नहे ईश्वरशक्ति बिने।
तहातेई संकर्षण करे शक्ति आधाने॥
ईश्वरेर शक्त्ये सृष्टि करये प्रकृति।
लौह जेन अग्निशक्त्ये पाय दाहशक्ति॥
(चै. च. म. २०।२५६-२६१)

अर्थात् कृष्ण ही माया शक्ति द्वारा समस्त ब्रह्माण्डोंका सृजन करते हैं। कोई-कोई जड़ा प्रकृतिको ही ब्रह्माण्डोंका मूल कारण मानते हैं। परन्तु उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है। क्योंकि जड़ा प्रकृतिमें स्वयं कोई क्रिया करनेकी शक्ति नहीं है। ईश्वर-शक्तिका उसमें संचार होने पर ही वह जगतका सृजन करती है। अन्यथा भगवत् शक्तिके अभावमें वह सृष्टि कार्यका संपादन नहीं कर सकती है। भगवान् संकर्षण उस जड़ा प्रकृतिमें अपनी शक्तिका संचार करते हैं। तभी वह सृष्टि कार्यमें समर्थ होती है। उदाहरणके लिये एक लोहेके डंडेको आगमें लाल करने पर उससे लकड़ी, कागज आदि सब कुछ जल जाता है। यहाँ पर उन वस्तुओंको लोहा नहीं जलाता, बल्कि अग्निकी दाहिका शक्ति ही उस लौह खण्डमें प्रवेश करके उन वस्तुओंको भस्म कर डालती है।

कृष्णकी क्रियाशक्तिका नाम ही संकर्षण शक्ति है। मायाशक्तिका नश्वर परिणाम जड़जगत है। अगली चतुर्थ धारामें इस विषयमें कुछ विस्तारपूर्वक बतलाया जायगा।

रसतत्त्व

श्रीकृष्ण ही स्वयं रसतत्त्व हैं। वेदोंमें ऐसा कहा गया है। सप्तमवृष्टिकी प्रथम धारामें रसतत्त्वका विशद-विवेचन होगा। उसमें यह बतलाया जायगा कि रस किसे कहते हैं। वाक्य—प्राकृत हैं। अतएव वाक्य जो कुछ कहते हैं या कहेंगे—वे चाहे जितना भी सावधानीके साथ ही क्यों न कहें—वह सब कुछ प्राकृत अथवा प्राकृतवत् ही होगा। यदि पाठक वास्तवमें श्रद्धालु हों, तभी उनके निर्मल चित्तमें अप्राकृत रस उदित होगा। परन्तु सत्संग और महासौभाग्यके फलस्वरूप ही ऐसा होना संभव होता है। तर्कके द्वारा लाख प्रयत्न करने पर भी इसका उदय नहीं हो सकता है। यदि जिज्ञासु व्यक्ति कुसंगमें

पढ़कर प्राकृत रसके अनुशीलनको ही अप्राकृत रसका अनुशीलन मानकर अनुशीलन करता है, तो वह प्राकृत-रस सहजियाका रूप धारण करके उसे सदाके लिये अधोगामी बना देता है। इसलिये विशेष सतर्कताके साथ रसतत्त्वका अनुभव करना चाहिए। श्रीकृष्ण स्वयं अखण्ड रस हैं। उनमें चौसठ अप्राकृत गुण हैं‡। इन चौसठ गुणोंमें से पहलेके पचास गुण बिन्दु-बिन्दुरूपमें जीवोंमें होते हैं। वे पचासगुण कुछ-कुछ अधिक मात्रामें तथा इनके अतिरिक्त और भी पाँच अधिक गुण शिव, ब्रह्मा, गणेश और सूर्य आदि देवताओंमें लक्षित होते हैं। इसीलिये ये देवतागण विभिन्नांश होने पर भी 'ईश्वर' कहलाते हैं। पुनः पहलेके पचपन गुण पूर्णमात्रामें तथा और भी पाँच गुण पूर्णरूपमें अर्थात् ६० गुण पूर्ण मात्रामें नारायण, विष्णु और उनके अवतारोंमें देखे जाते हैं। विष्णुतत्त्वके ६० गुण तथा इनके अतिरिक्त और भी चार अप्राकृत असाधारण गुण कृष्णमें विराजमान होते हैं। ये चार गुण कृष्णके अतिरिक्त और किसीमें भी नहीं होते। इसलिये कृष्ण ही एकमात्र सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् और सर्वरसमय परतत्त्व हैं। स्वरूपशक्तिकी जितने प्रकारकी विचित्रताएं हैं, वे सब मूर्तिधारण करके श्रीकृष्णके शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर रसके उपकरण हैं। ह्लादिनीके सार स्वरूप श्रीवृषभानुनन्दिनी राधिकाजी कृष्णकी सर्वाधिक प्रियतमा हैं। गोलोक व्रजमें इस रसकी नित्य स्थिति होने पर भी कृष्णकी इच्छासे योगमाया चित्शक्ति उस रसको अखण्डरूपमें भौमव्रजमें प्रकाश करती हैं। जिनकी बुद्धि प्राकृत गुणोंको पार करनेकी शक्ति नहीं प्राप्त करती, वे इस अपार रसतत्त्वकी मीमांसा या उपलब्धि करनेमें समर्थ नहीं होते और इसलिये वे लोग व्रजरसको प्राकृत रस समझ कर उसकी अवज्ञा करते हैं। श्रीमद्भागवतमें ऐसा कहा गया है कि जो लोग श्रद्धापूर्वक व्रजरसका वर्णन करते हैं अथवा श्रवण करते हैं, वे शीघ्र ही पराभक्ति स्वरूप कृष्णप्रेम प्राप्त करते हैं§ तथा जड़ोदित हृद्रोगसे सदाके लिये छुटकारा पा लेते हैं।

---

‡ अथ नेता सुरम्याङ्गः सर्व-सुलक्षणान्वितः ।
रुचिरस्तेजसा युक्तो बलीयान् वयसान्वितः ॥
विविधाद्भुत भाषावित् सत्यवाक्यः प्रियंवदः ।
वावदूकः सुपाण्डित्यो बुद्धिमान् प्रतिभान्वितः ॥
विदग्धश्चतुरो दक्षः कृतज्ञः सुदृढ़-व्रतः ।
देश-काल-सुपात्रज्ञः शास्त्रचक्षु शुचिर्वशीः ॥
स्थिरो दान्तः क्षमाशीलो गंभीरो धृतिमान् समः ।
वदान्यो धार्मिकः शूरः करुणो मान्य-मानकृत् ॥
दक्षिणो विनयी ह्रीमान् शरणागत-पालकः ।
सुखी भक्त-सुहृत् प्रेम-वश्यः सर्व-शुभंकरः ॥
प्रतापी कीर्तिमान् रक्तः लोक-साधु-समाश्रयः ।
नारीगण-मनोहारी सर्वाराध्यः समृद्धिमान् ॥
वरीयानीश्वरश्चेति गुणास्तस्यानुकीर्तिताः ।
समुद्रा ईव पञ्चाशद्विंशाह्याहरेरमी ॥
जीवेष्वेते वसन्तोऽपि बिन्दु-बिन्दुतया क्वचित् ।
परिपूर्णतया भान्ति तत्रैव पुरुषोत्तमे ॥
अथ पञ्च-गुणा ये स्युरंशेन गिरीशादिषु ।
सदा स्वरूप-संप्राप्तः सर्वज्ञो नित्यनूतनः ।
सच्चिदानन्द-सान्द्रांगः सर्वसिद्धि निषेवितः ॥
अथोच्यन्ते गुणाः पञ्च ये लक्ष्मीशादि-वर्तिनः ।
अविचिन्त्य-महाशक्तिः कोटि-ब्रह्माण्ड-विग्रहः ॥
अवतारावली बीजं हतारि-गति दायकः ।
आत्मारामगणाकर्षीत्यमी कृष्णे किलाद्भुताः ॥
सर्वाद्भुत चमत्कार लीला-कल्लोल-वारिधिः ।
अतुल्य-मधुर प्रेम-मण्डित प्रिय-मण्डलः ॥
त्रिजगन्मानसाकर्षी-मुरली-कल-कूजितः ।
असमानोर्द्ध-रूप-श्रीः विस्मापित-चराचरः ॥
लीला प्रेम्णा प्रियाधिक्यं माधुर्ये वेणु रूपयोः ।
इत्यसाधारणं प्रोक्तं गोविन्दस्य चतुष्टयम् ।
एवं गुणाश्चतुर्भेदाश्चतुः षष्टिरुदाहृताः ॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु द० ल० १)

§ विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः ।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्यकामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥ (श्रीमद्भा० १०.३३.३९)

श्रीनवद्वीपधामकी परिक्रमा और श्रीगौर-जन्मोत्सव

"श्रुतिश्छान्दोग्याख्या वदति परमं ब्रह्मपुरकं
स्मृतिर्वैकुंठाख्यं वदति किल यद्विष्णुसदनम् ।
सितद्वीपश्चान्ये विरलरसिकोऽयं व्रजवनं
नवद्वीपं वन्दे परम सुखदं तं चिदुचितम् ॥

—श्रीनवद्वीप-शतकम्

धाम-परिचय

व्रजेन्द्रनन्दन श्याम सुन्दर—श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान हैं। वे अखिल रसामृत-सिन्धु हैं। अप्राकृत गोलोक वृन्दावन ही उनका नित्यधाम है। वहीं पर वे तदभिन्न महाभावस्वरूपा, अखिलविश्वमोहन-मोहिनी, नित्य-रसेश्वरी, तद्गतप्राणा श्रीवृषभानु-नन्दिनीके साथ नित्य विलास करते हैं। वे वृन्दावन-विहारी श्रीकृष्ण यद्यपि पूर्णकाम हैं, तथापि उनके हृदयमें अपनी रूप-माधुरी,गुण-माधुरी,लीला-माधुरी तथा वेणु-माधुरीको स्वयं आस्वादन करनेका लोभ उत्पन्न होता है। वे ऐसा सोचते हैं कि—'मैं प्रेमका एकमात्र विषय हूँ। श्रीमती राधिका मेरे प्रेमका सर्व-श्रेष्ठ आश्रय हैं। श्रीमतीजी आश्रय होनेके कारण मेरी माधुरियोंका—प्रेमका आस्वादन कर सर्वदा मुग्ध रहती हैं। मेरी रूप-माधुरीका पान कर एवं लीला-माधुरीका आस्वादन कर उन्हें कैसा सुख होता है, कितना आनन्द होता है; कैसे पता चले? यदि मुझे इस विषयका आस्वादन करना है तो मुझे श्रीमतीजीके आश्रयजातीय भाव एवं उनकी अङ्ग-कान्तिको अङ्गीकार करना अनिवार्य है।"—ऐसा सोच कर रासरसिक श्रीकृष्ण श्रीमती राधिकाके भाव एवं कान्ति अङ्गीकार करके श्रीगौरांगरूपसे स्वयं ही अपनी प्रेम-माधुरीका आस्वादन करते हैं। गोलोक वृन्दावनके जिस प्रकोष्ठमें कृष्णकी यह नित्य औदार्य लीला—गौरलीला होती है—उसे ही छान्दोग्य श्रुतिमें 'ब्रह्मपुर',स्मृतियोंमें वैकुण्ठ, विष्णु-पुरी और श्वेतद्वीप कहा गया है। कोई-कोई तत्त्वविद् रसिकभक्त उसे गुप्त वृन्दावन या श्रीनवद्वीप भी कहते हैं।

सपार्षद श्रीगौरांगदेव अपने उसी नित्यधाम—श्रीनवद्वीपके साथ एक कल्पमें केवल एक बार इस प्रपंचमें अवतीर्ण होकर जगतमें अनर्पित श्री-कृष्ण-प्रेमका वितरण करते हैं। जिस प्रकार श्रीगौरांगदेव—साक्षात् कृष्ण ही हैं, उसी प्रकार श्रीनवद्वीपधाम भी—साक्षात व्रजधाम ही है तथा जिस प्रकार गौरलीला कृष्णलीलाका परिशिष्ट है उसी प्रकार नवद्वीप भी वृन्दावनका परिशिष्ट है।

कलियुगमें समस्त तीर्थ इसी महातीर्थका आश्रय लेते हैं। अतः श्रीनवद्वीपधाम ही पृथ्वीमें सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है। इसलिये शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है कि कलियुगमें संतजन दूसरे-दूसरे समस्त तीर्थोंको छोड़ कर श्रीवृन्दावन या श्रीनवद्वीपमें ही निवास करते हैं—

साधवः कलिकाले तु त्यक्त्वान्यतीर्थसेवनं ।
वृन्दारण्येऽथवा क्षेत्रे नवखण्डे वसन्ति वा ॥

—गरुड़-पुराण

अनन्त संहिताका तो ऐसा कथन है कि कोई भले ही हजार-हजार तीर्थोंमें भ्रमण क्यों न करे, श्रीनव-द्वीप धामका आश्रय किये बिना वह श्रीराधाकृष्णको प्राप्त नहीं कर सकता है।

श्रीनवद्वीप धामकी परिधि सोलह कोसमें है। भगवती भागीरथीने इस धामको नौ द्वीपोंमें विभक्त कर दिया है। आजकल गङ्गाके पूरबमें पाँच द्वीप हैं—(१) अन्तर्द्वीप श्रीमायापुर, (२) सीमन्त द्वीप, (३) गोद्रुम द्वीप, (४) मध्यद्वीप और (५) रुद्रद्वीप। तथा

गङ्गाके पश्चिममें चार द्वीप हैं—(१) कोलद्वीप, (२) ऋतुद्वीप, (३) जह्नुद्वीप, और (४) मोद्द्रुम-द्वीप। नवद्वीप नवधा भक्तिका स्वरूप है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पदसेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—ये नवधा भक्तिके नौ प्रकारके अङ्ग हैं। इसे वैधी-साधन-भक्ति भी कहते हैं। नव-द्वीपका एक-एक द्वीप नवधा भक्तिके एक-एक अङ्गोंका स्वरूप है। सीमन्त द्वीप—श्रवणका, गोद्रुम द्वीप—कीर्तनका, मध्यद्वीप—स्मरणका, कोलद्वीप—पदसेवा-का, ऋतुद्वीप-अर्चनका, जह्नुद्वीप—वंदनाका, गोद्रुम-द्वीप—दास्यका, रुद्रद्वीप—सख्यका, और अन्तर्द्वीप—आत्म-निवेदनरूपा भक्तिका क्षेत्र है। अन्तर्द्वीप श्रीमायापुर ऊपरके आठ द्वीपोंके बीचों-बीच भागमें स्थित है। यही श्रीगौरांगदेवका आविर्भाव स्थल है। यहाँ आजकल एक विशाल मन्दिर बना हुआ है। इन स्थलोंकी परिक्रमा करनेसे उन-उन भक्ति अङ्गोंका उदय होता है।

यों तो साधक नवधा भक्तिमेंसे किसी भी एकका साधन करके भी साध्य वस्तुको प्राप्त कर सकता है, परन्तु कलियुगमें हरि-संकीर्तनको ही प्रधानता दी गयी है। कीर्तन करनेसे नवधा भक्तिके नौ अङ्गोंका अथवा ६४ प्रकारके भक्ति-अङ्गोंका अपने आप ही पालन हो जाता है। इसीलिये श्रीजीव गोस्वामीने सन्दर्भमें ऐसा लिखा है कि कलिकालमें किसी भी **भक्तिका साधन क्यों न किया जाय, कीर्तनाख्या भक्तिके संयोगसे ही करना चाहिए।** इसीलिये श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति कीर्तनाख्य द्वीप—श्री-गोद्रुम द्वीपमें वर्तमान युगमें धाम परिक्रमाके पुनः प्रवर्तक आचार्यप्रवर श्रीभक्तिविनोद ठाकुरकी कृपा भिक्षा ग्रहण करके ही धाम-परिक्रमा प्रारंभ करती है।

परिक्रमाका संक्षिप्त विवरण

पिछले वर्षोंकी भाँति इस वर्ष भी श्रीश्रीआचार्य-देवके आनुगत्यमें श्रीनवद्वीप-धाम-परिक्रमा एवं श्रीगौर-जन्मोत्सव बड़े धूम-धाम और सुशृङ्खलरूपसे सम्पन्न हुए हैं। इस बार पिछले वर्षोंसे यात्रियोंकी संख्या अत्यन्त अधिक थी। यात्रियोंके वास-स्थान, जल एवं विद्युतका प्रबन्ध पहलेसे ही प्रचुररूपमें कर लिया गया था। परन्तु यात्री-संख्या पहले ही दिन आशातीत अधिक हो गयी और भी नयी व्यवस्थाके लिये बाध्य होना पड़ा। इसीलिये परिक्रमाकालमें यात्रियोंको प्रतिदिन एक-एक द्वीपमें निवास करानेकी योजना भंग कर देनी पड़ी। क्योंकि बाहरमें इतने यात्रियोंके वासस्थान, पानीय जल तथा प्रवास आदि-की व्यवस्था होनी कठिन ही नहीं, असंभव सी प्रतीत हुई। श्रीगौरचन्द्रकी कृपा तथा श्रीश्रीआचार्य देवकी सुन्दर व्यवस्थाके कारण इतनी भीड़ होने पर भी दो-एक छोटी-मोटी घटनाओंके अतिरिक्त कोई उल्लेख-नीय दुर्घटना नहीं हुई।

पहले दिन १ चैत्रको संध्यारतिके पश्चात् अधि-वास कीर्तन हुआ। श्रीपाद मोहिनी मोहन, रागभूषण प्रभुने इतना मधुर एवं मनोहर कीर्तन किया कि विराट सभास्थल श्रोताओंसे खचाखच भरा होने पर भी कीर्तन स्वरके अतिरिक्त किसी प्रकारका शब्द नहीं होता था। सभी लोग चुपचाप मुग्ध होकर कीर्तन सुन रहे थे। कीर्तनके पश्चात् त्रिदण्डि स्वामी भक्ति वेदान्त नारायण महाराजजीने श्रीनवद्वीप धाम एवं श्रीधाम-परिक्रमाके माहात्म्यके सम्बन्धमें संक्षिप्त भाषण दिया।

दूसरे दिन २ चैत्रको प्रातःकाल श्रीश्रीआचार्य देवके निर्देशानुसार त्रिदण्डि संन्यासियोंकी संचा-लकतामें विराट जुलूसके रूपमें परिक्रमा-पार्टी श्रीगोद्रुम और मध्यद्वीपकी परिक्रमा करनेके लिये निकली। अपनी कीर्तन-ध्वनिसे समस्त दिशाओंको व्याप्त करती हुई वह पुण्यतोया पतीत पावनी गङ्गा-को पार करके स्वरूप गंज, गादिगाछा, सुरभी कुञ्ज, स्वानंद सुखद कुञ्ज, सुवर्ण विहार और हरिहर क्षेत्र का दर्शन करती हुई दोपहरमें श्रीनृसिंह देवपल्लीमें उपस्थित हुई। वहाँ श्रीनृसिंह देवका दर्शन कर दोपहरका महाप्रसाद सेवनोपरान्त थोड़ा विश्राम किया और पुनः

मध्यद्वीपके हंसवाहन महादेव आदि स्थानोंका दर्शन करती हुई संध्याके समय श्रीदेवानन्द गौड़ीयमठमें लौट आयी। संध्यारति और कीर्तनके पश्चात त्रिदण्डिस्वामी भक्ति वेदान्त त्रिविक्रम महाराजजीने श्रीमद्भागवतका पाठ किया मनुष्य जीवनमें भगवत् उपासनाकी आवश्यकताके ऊपर सार गर्भित भाषण दिया।

तीसरे दिन श्रीकोल द्वीप पार करके परिक्रमा पार्टीने समुद्रगढ़, चापाहाटी और ऋतुद्वीपका दर्शन किया। चौथे दिन जह्नु द्वीपमें जह्नु मुनिका स्थान, विद्यानगरमें श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यका स्थान तथा मोदद्रुम द्वीपमें श्रीवृन्दावनदास ठाकुरका स्थान—इन सबका दर्शन कर दोपहरमें ही श्रीदेवानन्द गौड़ीय मठ में लौट आयी।

चौथे दिन कोलद्वीपमें प्रौढ़ा माया, श्रीजगन्नाथ दास बाबाजी महाराजकी समाधि आदि स्थानोंका दर्शन करने श्रीमद्द्वीपकी परिक्रमाकी गयी।

पाँचवें दिन अन्तर्द्वीप मायापुरकी परिक्रमा हुई। आजकी परिक्रमामें यात्रियोंकी संख्या दुगुनी हो गयी थी। आज परिक्रमाके साथ श्रीश्रीआचार्यदेव स्वयं उपस्थित होनेके कारण सबमें एक नवीन उत्साह और प्रेम उमड़ रहा था। श्रीमन्महाप्रभुका आविर्भाव स्थल—श्रीयोगपीठ, श्रीवास-अङ्गन, अद्वैत-भवन आदिका दर्शन करके यात्री जब जगत् गुरु श्रीसिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद' के समाधि मंदिरमें उपस्थित हुई तो श्रीश्रीआचार्यदेवने ऐसे आवेगपूर्ण तथा रुद्ध कंठसे 'श्रीलप्रभुपादकी दया' के सम्बन्धमें भाषण किया कि समस्त श्रोता अंत तक रोते रहे। श्रीश्रीआचार्यदेवकी वह मूर्त्ति आज आँखोंमें नाचती रहती है। तदनन्तर श्रीचैतन्य मठ, श्रीगौरकिशोर दास बाबाजी महाराजकी समाधि और श्रीचाँदकाजी की समाधि आदि दर्शनीय स्थानोंका दर्शनकर श्रीजयदेव गोस्वामीके पाटमें सबको महाप्रसाद दिया गया। शामको परिक्रमा पार्टी पुनः श्रीदेवानन्द गौड़ीय मठमें लौट आयी।

७ चैत्र को श्रीगौरजन्मोत्सव खूब समारोहके साथ मनाया गया। सवेरेसे शामतक श्रीचैतन्य भागवतका पारायण हुआ। संध्याके समय विराट संकीर्तनके मध्य श्रीचैतन्यमहाप्रभुका आविर्भाव एवं अर्चन-पूजन तथा संध्यारति सम्पन्न हुई। पश्चात् श्रीश्रीआचार्यदेवके सभापतित्वमें एक सभाका आयोजन हुआ, जिसमें अनेक संन्यासियों एवं ब्रह्मचारियोंने "श्रीचैतन्य महाप्रभु एवं उनकी शिक्षा" के सम्बन्धमें भाषण दिया। अन्तमें श्रीश्रीआचार्य देवने उक्त विषय पर बड़ा ही सारगर्भित और उपदेश पूर्ण भाषण किया। तत्पश्चात् सबके लिये अनुकल्प की व्यवस्थाकी गयी।

८ चैत्रको साधारण महोत्सव सम्पन्न हुआ। निमंत्रित-अनिमंत्रित सबको विविध प्रकारका महाप्रसाद दिया गया।

इस वर्ष श्रीश्रीआचार्यदेवने कृपापूर्वक प्रतिदिन संध्याके अधिवेशनमें बड़ा ही ओजस्विनी भाषण दिया। उनके युक्तिपूर्ण और शास्त्र-सङ्गत उपदेशोंको सुनकर भक्तमण्डलीको अपार हर्ष और उत्साह हुआ। श्रीश्रीआचार्यदेवने निरीश्वर और जगत् विध्वंशकारी वर्तमान शिक्षा-पद्धतिको अकाट्य युक्तियोंसे बुरी तरह लताड़ा। उन्होंने बड़ी दृढ़तासे इसका प्रतिपादन किया कि श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षाओंका अवलम्बन किये बिना जगत्में वास्तविक शान्ति और सुख नहीं हो सकता है। उनकी व्याख्यान मालाको अगली संख्याओंमें प्रकाशित करनेकी व्यवस्था हो रही है।

श्रीपाद मोहिनी मोहन रागभूषण प्रभुने इस अनुष्ठान में प्रतिदिन संध्यारतिके पश्चात् बड़ा ही मधुर कीर्त्तन किया। कीर्तनके समय सारी सभा स्तब्ध हो जाती थी। लोगोंकी आँखें सजल हो जाती थीं। उनके कीर्तनोंकी सभी मुक्तकंठसे प्रशंसा करते थे।

श्रीश्रीआचार्यदेवके आनुगत्यमें त्रिदण्डि संन्यासियों और ब्रह्मचारियोंने दिनरात जिस प्रकार अदम्य उत्साह, अटूट सेवा-भावना तथा अक्लांत परिश्रम से परिक्रमाको सफल बनाया है, वह सर्वथा स्तुत्य है।

इस धाम-परिक्रमाके विराट अनुष्ठानमें त्रिदण्डि-स्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त मुनि महाराज, त्रिदण्डि-स्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त परिव्राजक महाराज, त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त शुद्धाद्वैती महाराज, त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त त्रिविक्रम महाराज, त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त नारायण महाराज, त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त हरिजन महाराज, त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त सज्जन महाराज तथा त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त विष्णुदैवत महाराज आदि त्रिदण्डि यतियोंने इस अनुष्ठानको अपनी अमृतमय हरिकथा भाषणों तथा उपदेशोंसे निरन्तर हरिसंकीर्तनमय बनाया था। इनके अतिरिक्त श्रीहरि ब्रह्मचारी, श्रीभागवत दासाधिकारी, श्रीभगवानदास ब्रह्मचारी, श्रीचिद्घनानन्द ब्रह्मचारी, श्रीमुकुन्दगोपाल ब्रह्मचारी, आदिने विविध प्रकारके सेवा-कार्योंका भार ग्रहण कर इस अनुष्ठानको साफल्य मण्डित बनाया है। अंतमें इस शुद्ध-भक्ति-अनुष्ठानमें किसी प्रकारसे योग दान करने वाले सबको धन्यवाद ज्ञापन करते हैं।

—प्रकाशक

श्रीभागवत-पत्रिकाके सम्बन्धमें विवरण

१. प्रकाशनका स्थान—श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा।

२. प्रकाशनकी अवधि—मासिक

३. मुद्रकका नाम—श्रीहेमेन्द्र कुमार
राष्ट्रगत सम्बन्ध—हिन्दू (भारतीय)
पता—साधन प्रेस, डैम्पियर नगर, मथुरा

४. प्रकाशकका नाम—श्रीकुंजविहारी ब्रह्मचारी
राष्ट्रगत सम्बन्ध—हिन्दू (सारस्वत गौड़ीय ब्राह्मण)

५—पता—श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा।

५—सम्पादकका नाम—त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त नारायण महाराज।
राष्ट्रगत सम्बन्ध—हिन्दू (सारस्वत गौड़ीय ब्राह्मण)
पता—श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा।

६—पत्रिकाका स्वत्वाधिकारी—श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके तरफसे उसके प्रतिष्ठाता और नियामक परमहंस स्वामी श्रीमद्भक्ति प्रज्ञान केशव महाराज। समिति अनरेजिस्टर्ड।

मैं, कुंजविहारी ब्रह्मचारी, इसके द्वारा यह घोषित करता हूँ कि ऊपर लिखी बातें मेरी जानकारीमें और विश्वासके अनुसार सत्य हैं।

१३ अप्रैल १९६२।

कुंजविहारी ब्रह्मचारी,
—प्रकाशक